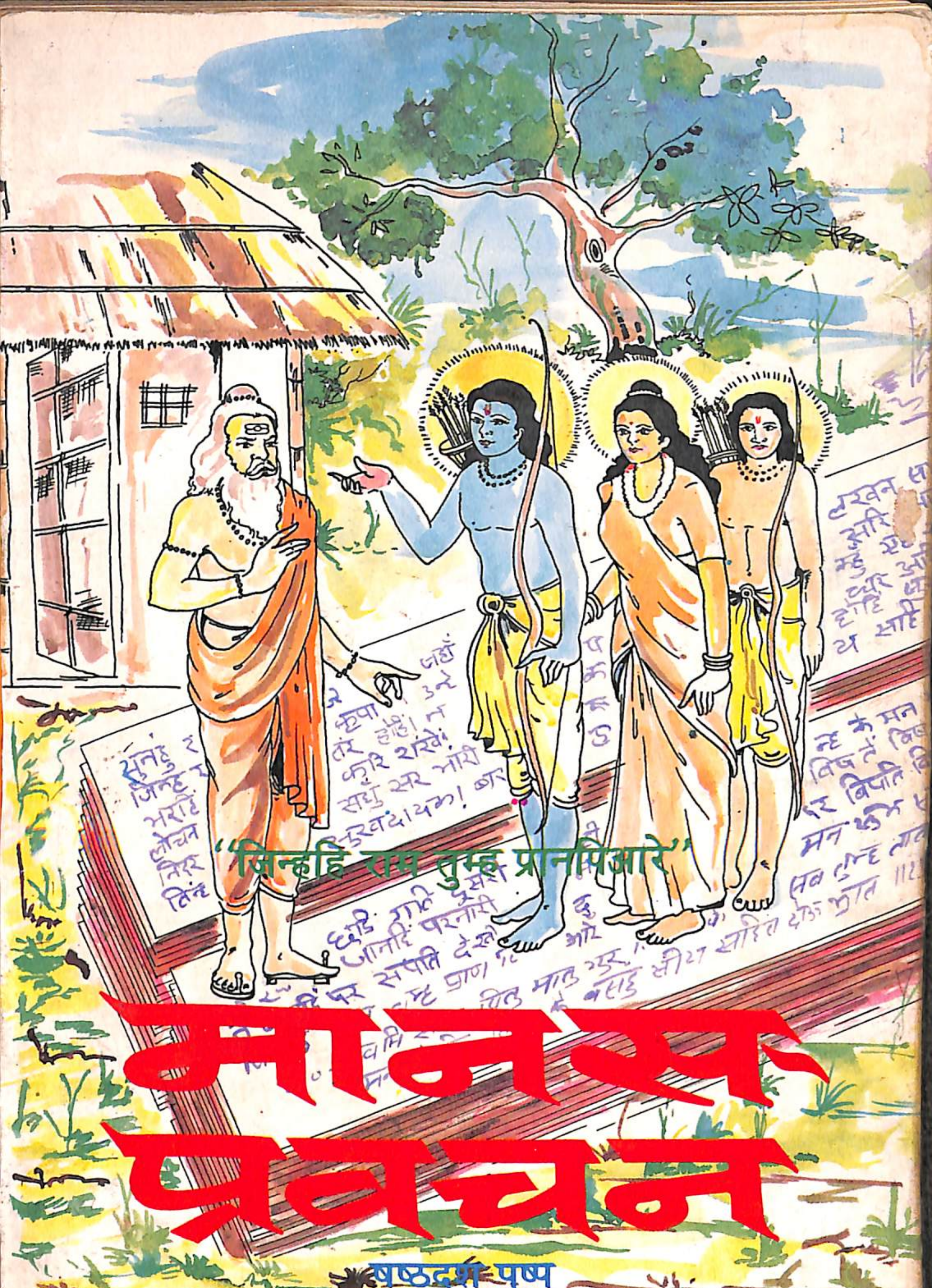


'जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे'

मानस-प्रवचन

षष्ठदश पुष्प

पं० रामकिंकर उपाध्याय

स्वामि सखा पितु मातु गुर

मन मंदिर तिन्ह कें बसहु

श्री रामः शरणं मम

स्नेहास्पद श्री बी. एन. 2031 को

सस्नेह

रा. त्रिवेदी

जिन्ह के सब तुम्ह तात।

सीय सहित दोउ भ्रात।।



मानस-

बिरला अकादेमी आफ

प्रवचन

परम पूज्य महाराज श्री रामकिंकर उपाध्याय

सम्पादक

पं० उमाशंकर शर्मा

आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता

प्रकाशक : बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०६ सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता–२६

मूल्य : तीस रूपये
संस्करण : रामनवमी, संवत् २०५०
मुद्रक : सरस्वती प्रिंटर्स, दिल्ली

पं. रामकिंकर उपाध्याय

तुलसी तत्त्वानुसन्धान केन्द्र
४/२७३, रानी घाट
कानपुर–२०८००२

प्राक्कथन

प्रवचन की विधा श्रोता को तत्काल प्रभावित, सम्मोहित या चमत्कृत कर सकती है। पर उसके साथ एक समस्या है, विस्मृति की। बहुत कम ऐसे श्रोता होंगे जिन्हें सुनी बातें याद रह सकें। लेखन की विधा एक भिन्न समस्या को जन्म देती है। लिखते समय लेखक के समक्ष कोई व्यक्ति नहीं होता। विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करना लेखक की विशेषता होती है। किन्तु उस कृति का आनंद केवल बुध ही ले सकते हैं। प्रवचनों का प्रकाशन इन्हीं दोनों समस्याओं के समाधान की दिशा में एक प्रयास है। प्रवचन के प्रकाशन के प्रेरक बिरला दम्पत्ति श्रीमती सरला बिरला एवं श्री बंसत कुमार जी बिरला हैं। इनके आग्रह पर ही "बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कैल्चर" द्वारा प्रकाशन का कार्य किया जाता रहा है। प्रवचन प्रकाशन का यह सोलहवां पुष्प प्रभु के पाद पद्मों में अर्पित करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसका मुख्य श्रेय बिरला दम्पत्ति को है। और इसके लिए वे हार्दिक आशीर्वाद और मंगलकामना के पात्र हैं। इस वाटिका के पुष्प के प्रस्फुटन में जिन महानुभावों का हाथ रहा है वे हैं श्री उमाशंकर शर्मा, श्री नंदकिशोर स्वर्णकार, श्री विष्णुकांत पाण्डेय, श्री आशुतोष, श्री मैथिलीशरण, बेटी मंदाकिनी, श्री आदित्य किरण, श्री टी० सी० चोरडिया तथा श्री ए० आर० शर्मा, इन सबको मेरा आशीर्वाद।

रामकिकर उपाध्याय

।। श्री राम शरणं मम।।

अनुक्रमणिका

(श्री रामः शरणं मम)

(१)

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।

२/१३०

भगवत्कथा रसिक श्रद्धालु श्रोता वृन्द, भक्तिमती देवियों ! पुनः इस वर्ष यह सुअवसर मिला है कि जब भगवान श्री लक्ष्मीनारायण की सन्निधि में उनके पावन प्रांगण में भगवद्‌चरित्र की चर्चा की जा सके। सौभाग्य की बात है कि प्रभु ने अपने मंगलमय चरित्र–गायन के लिए पुनः इस यन्त्र को माध्यम बनाया है। इस आयोजन के पीछे सौजन्यमयी श्रीमती सरलाजी बिरला और श्री बसन्तकुमारजी बिरला की श्रद्धा–भावना ही हैं। श्रीमती सरलाजी बिरला को जो डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की गई है, वह उनकी सेवा और योग्यता की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त ही है। प्रभु इन दम्पति के माध्यम से जो सेवा ले रहे हैं, वह इनकी पात्रता तथा प्रभु की अनुकम्पा का ही परिणाम है।

प्रसंग के रूप में महर्षि वाल्मीकि तथा भगवान राम का सम्वाद विगत कई वर्षो से आपके समक्ष चल रहा है। भगवान राम ने जब महर्षि से पूछा कि मैं कहाँ रहूँ, तब प्रारम्भ में महर्षि वाल्मीकि ने वेदान्त की भाषा में उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि पहले आप यह बता दें कि 'आप कहाँ नहीं है' तो फिर मैं आपको बता दूँगा कि आप वहाँ रहें। उसके पश्चात् महर्षि वाल्मीकि ने क्रमशः उस प्रसंग का अवतरण किया। सीधा–सा तात्पर्य है कि उन्होंने पहले वेदान्त की भाषा में उत्तर दिया,

फिर भक्ति की भाषा में, तत्पश्चात् व्यवहारिक कर्म की भाषा में। तो आइए महर्षि के वर्णन का जो तात्त्विक अभिप्राय है, उस पर एक दृष्टि डालें।

सारे शास्त्रों की मान्यता है कि ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है। यद्यपि यह व्याख्या तत्त्वतः सत्य भले ही हो पर इससे व्यक्ति के अन्तःकरण की समस्याओं का समाधान नहीं होता है। यह प्रश्न गोस्वामी जी रामकथा के प्रारम्भ में करते हुए कहते है किः——

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।। १/२२/७

ऐसा ईश्वर जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में अविकारी के रूप में विद्यमान है, उसके रहते हुए भी व्यक्ति की दीनता और दरिद्रता में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता है।

इसका समाधान देते हुए गोस्वामी जी ने नाम–वन्दना प्रसंग में रत्न का दृष्टान्त दिया। उन्होंने कहा कि केवल होना ही यथेष्ट नहीं है, अपितु उसे प्रगट करने से ही वह उपयोगी होगा। तुलसीदासजी का वाक्य यही है कि :——

सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें। १/२२/८

रत्न आपके पास हो या मार्ग में कहीं पड़ा हुआ मिल जाय पर अगर आपको यह लग रहा हो कि 'यह एक काँच का टुकड़ा है' और उसे खिलौने या शोभा के रूप में रख लें, तो रत्न पास होने पर भी उसके द्वारा आप उपयुक्त सुख प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि कोई रत्न–पारखी जौहरी मिले जो यह बता सके कि यह काँच का टुकड़ा नहीं बल्कि कीमती रत्न है। और तब आप उसका अन्तर देखेंगे। यद्यपि वही रत्न पहले भी था पर ज्ञान के अभाव में उस समय व्यक्ति को उसमें किसी विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति नहीं हो रही थी और ज्ञान होते ही हमारे जीवन में प्रसन्नता परिलक्षित होने लगी। पर समस्या एक यह भी है कि 'क्या केवल ज्ञान

से ही समाधान हो जाएगा ?' क्योंकि हो सकता है, उस रत्न का मूल्य लाखों में हो, पर यदि वह व्यक्ति भूखा है तो उसे यह सोचकर भूख से छुटकारा नहीं मिलेगा कि 'इस रत्न का मूल्य लाख रूपए है।' रत्न पास होने पर भी ठंड लगने पर न तो उसके शीत का निवारण होगा, न भूख मिटेगी और न दरिद्रता ही मिटेगी।

'राम' नाम तो बड़ा प्रचलित है। हम सब अपने मुँह से इसका उच्चारण करते हैं, पर जिस प्रकार इस नाम की महिमा का वर्णन किया गया है, क्या वह प्रभाव हमें अपने जीवन में दिखाई पड़ता है ! कहने के लिए तो कह दिया गया कि :—

राम राम कहि जे जमुहाहीं।
तिन्हहिं न पाप पुंज समुहाहीं।। २/१६३/५

'जमुहाने के समय भी रामनाम ले लेने से पाप दूर चले जाते हैं', पर ऐसा होता है क्या ? बहुधा देखा तो यह गया है कि जमुहाई लेने के बाद नींद भी कई बार आ जाती है। गोस्वामीजी ने तो यहाँ तक कहा है कि :—

बारक राम कहत जग जेऊ।
होत तरन तारन नर तेऊ।। २/२१६/४

एक बार नाम लेने वाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, पर इसके साथ वह मुक्तिप्रदान करनेवाला भी बन जाता है। यद्यपि यह बड़ा विचित्र दावा है। पर हमें इसका भी अनुभव नहीं हो पा रहा है। किन्तु ऐसा क्यों होता है ? वस्तुतः रामनाम है क्या ? वैसे यदि देखें तो वर्णमाला के तीन अक्षर 'र', 'अ' तथा 'म' इसमें विद्यमान हैं। ये अक्षर तो साहित्य के अनेक शब्दों में विद्यमान हैं, तो फिर यह पूछा जा सकता है कि 'राम' नाम में ही ऐसी विशेषता क्यों ? और तब गोस्वामीजी ने रत्न का उदाहरण देते हुए कहा कि काँच के सैकड़ों चमकीले टुकड़े रखें हों और उसी में एक हीरे का टुकड़ा भी हो तो साधारण व्यक्ति को तो किसी अन्तर

की अनुभूति नहीं होगी क्योंकि देखने में दोनों का रंग एक–सा, दोनों ही चमकीले हैं। इसका भेद करने के लिए ही गोस्वामीजी ने यहाँ पर प्रगट होने की बात कही।

आप सब जानते ही होंगे कि मन्त्र–जप दीक्षा लेकर करना चाहिए। अब आप दीक्षा लेने जाएँ और गुरु 'राम' शब्द का मन्त्र दे तो आप कह सकते हैं कि यह शब्द तो मैं पहले ही जानता था। इसीलिए गुरुओं को बहुधा क्लिष्ट और अप्रचलित शब्दों से युक्त मन्त्र का चुनाव करना पड़ता है। क्योंकि उसके अटपटेपन से व्यक्ति को लगे कि हाँ ! यह कुछ मन्त्र हुआ। बहुधा सीधे सादे शब्दों के मन्त्र से व्यक्ति प्रभावित नहीं हो पाता। पर 'मन्त्र गुरु प्रदत्त हो' कहने का अभिप्रायः यही है कि गुरु रत्नों का पारखी है, जो उसके मूल्य को जानता है। काँच और हीरे में से जब जौहरी परख कर बता दे कि यह हीरा है, तब हमारे अन्तःकरण में विश्वास होगा। बिना जानकारीवाला व्यक्ति कहे तो उसके कथन पर हमें विश्वास नहीं होगा। गुरु अर्थात पारखी, जिसने रत्न के मूल्य को जान लिया है तथा जिसके (गुरु के) प्रति हमारे मन में पूर्ण विश्वास है। गोस्वामी जी इसको समझाते हुए कहते हैं कि पहले हम रत्न को जानें, फिर रत्न को देकर मूल्य प्राप्त करें और फिर मूल्य से जब अन्न, वस्त्र अथवा अन्य वस्तुएँ ले आएँगे तो उनके उपयोग से हमारी शीत, क्षुधा आदि का निवारण होगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि जप का स्वरूप भी ठीक इसी प्रकार का है।

आपने गुरु से दीक्षा ली। राममन्त्र मिला। अब इसका जप प्रारम्भ करें। प्रश्न उठ सकता है कि इस एक शब्द की ही बार–बार आवृत्ति क्यों ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि एक बार में भी नाम परम कल्याणकारी है पर जप की भी आवश्यकता है। और जप की पद्धति बताते हुए उन्होंने कहा :—

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।। १/२२/८

रामनाम की दिव्य शक्ति का निरूपण करना ही जप है। जपं का अर्थ है कि आप उस मन्त्र के अर्थ का चिन्तन कीजिए। महर्षि पातंजलि जहाँ पर जप का विवेचन करते है, वहाँ पर वे कहते है–'जपस्तदर्थ भावनं–जप का तात्पर्य है उसके अर्थ का चिन्तन करना। पहले शब्द, उसके अक्षर, फिर अक्षरों के बीच के नाद। दृष्टान्त के रूप में कहें तो कह सकते हैं कि गुलाब का क्या अर्थ है ? तो 'पाटल' आदि अनेक नाम बताए जा सकते हैं। पर वस्तुतः वे तो उस एक शब्द के बदले दूसरे शब्द हैं। संस्कृत में इसी को लेकर एक विनोद किया गया। विद्वान लोग दृष्टान्त दिया करते हैं कि एक शिष्य ने अपने गुरूजी से पूछा – मघवा मानें ? गुरूजी ने कहा – "विडउजा।" शिष्य घबरा गया कि हमको तो मघवा का ही अर्थ समझ में नहीं आ रहा था, यह विडउजा कहाँ से आ गया ? मघवा शब्द रामचरितमानस में भी आया है। यह इन्द्र के कई नामों में से एक है और मघवा तथा विडउजा दोनों ही शब्द इन्द्र के लिए संबोधन करने में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए इन समानार्थी शब्दों के चक्कर में न पड़कर विचार यह करना चाहिए कि इन्द्र का अर्थ क्या है ?

इस संदर्भ में राम चरितमानस में एक बड़ा सुन्दर प्रसंग आता है।

भरत जी चित्रकूट जाते समय मार्ग में महर्षि भारद्वाज के आश्रम में आते हैं। वे जब महर्षि के चरणों में प्रणाम करते हैं, उस समय गोस्वामी जी ने एक विलक्षण वाक्य लिखा :—

दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें। २/२०६/५

उन्होंने कहा – "भरत ! मैं तुम्हें देखकर कृतार्थ हो गया।" वैसे कृतार्थ शब्द का प्रयोग साहित्य में न जाने कितनी बार तथा अनेक अर्थो में होता है। अर्थ की दृष्टि से इस शब्द का तात्पर्य है कि 'जिसका अर्थ ज्ञात हो चुका हो।' और इस 'अर्थ' शब्द का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसकी व्याख्या हम अभी आगे चलकर करेंगे। रामायण में भी इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया। पर महर्षि भरद्वाज जो बात कहते हैं वह

बड़ी मीठी है। होना तो यह चाहिए था कि श्री भरत महर्षि को प्रणाम कर कहें कि मैं कृतार्थ हो गया, पर महर्षि कहते हैं कि तुमने मुझे कृतार्थ कर दिया। इस 'कृतार्थ' शब्द का जो शाब्दिक अर्थ हम लेते हैं, यहाँ पर उससे भिन्न अर्थ है। क्या भिन्नता है, यह उन्होंने आगे चलकर स्पष्ट किया।

महर्षि भरद्वाज का वाक्य सुनकर भरतजी संकोच में गड़ गए। महर्षि उनका संकोच समझ गए। भरत जी का संकोच था कि कहीं महर्षि यह तो नहीं पूछ देंगे कि 'क्या तुम वही भरत हो जिसके कारण श्री राम को चौदह वर्ष के लिए बनवास जाना पड़ा।' यदि यह पूछ देंगे तो मैं क्या कहूँगा ? गोस्वामीजी ने उनकी मनोभावना का वर्णन करते हुए लिखा :—

मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोंचू।
बोले रिषि लखि सीलु संकोचू।। २/२०६/७

श्री भरत का शील और संकोच देखकर मुनिजी ने कहा –''भरत! तुमको यही संकोच तो था कि मैं कुछ पूछँगा। पर तुम चिन्ता न करो हम कुछ नहीं पूछेंगे। क्योंकि :–

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई।

हमे सब समाचार मिल गया है।'' महर्षि ने सोचा था कि यह सुनकर कि संकोच दूर करेंगे, थोड़ा सिर ऊपर करेंगे। पर उन्हें दिखाई दिया कि सिर और झुक गया। श्री भरत के मन में आया कि जब पहले से सुन चुके हैं तो न जाने कितनी घृणा उनके मन में आ गई होगी ! यह तो और संकोच की बात हो गई। महर्षि कहने लगे भरत ! तुम्हें संकोच करने की आवश्यकता नहीं है :—

तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु समुझि मातु करतूति।२।२०६

संकोच तो कैकेई को होना चाहिए क्योंकि उन्हीं के कारण यह अनर्थ हुआ। किन्तु श्री भरत को लगने लगा कि कैकेई ने जो किया वह मेरे लिए ही तो किया, अतः दोषी तो मैं ही हूँ। और जब महर्षि ने

देखा कि इससे भी श्री भरत का संकोच दूर नहीं हुआ तो उन्होंने कहा "भरत ! इसमें कैकेई का भी दोष नहीं है क्योंकि :—

तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।।२।२०६

सरस्वती ने उनकी मति को भ्रष्ट कर दिया।" सुनकर श्री भरत बड़े लज्जित हुए। वे विचार करते हैं कि सरस्वती बुद्धि शुद्ध करती हैं, यह तो सुना था, पर यह पहली बार सुनने को मिला कि सरस्वती ने किसी की बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। श्री भरतजी की स्थिति में परिवर्तन न देखकर भरद्वाजजी ने कहा कि जानते हो सरस्वती की बुद्धि किसने भ्रष्ट की ? क्योंकि पहले स्वयं उनकी बुद्धि भ्रष्ट होगी तब न वे किसी और की बुद्धि को भ्रष्ट करेंगी। और सत्य भी यही था।

श्री राम वनगमन के पीछे लगता है कारण श्री भरत हैं। उनके पीछे लगता है कैकेई हैं और उनके पीछे मन्थरा लगती हैं। पर गोस्वामी जी ने लिखा कि सरस्वती ने मन्थरा की बुद्धि को पलट दिया क्योंकि वस्तुतः भगवान राम स्वयं वन जाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने सरस्वती को संकेत किया और सरस्वती ने श्री राम का रुख देखकर यह सब कुछ किया। शब्द भी यही आता है :—

तब कछु कीन्ह राम रुख जानी।

इसका अर्थ है कि सबके पीछे अन्तर्यामी भगवान श्री राम हैं। और तब महर्षि भरद्वाज ने एक रहस्य खोला कि सच्चाई यह नहीं है :—

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ।
लोकु बेदु बुध संमत दोऊ।।
तात तुम्हार बिमल जसु गाई।
पाइहि लोकउ बेदु बड़ाई।। २/२०६/१-२

अपितु वास्तविकता तो यह है कि :—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु/२/२०८

भरत ! यह जो श्री राम का वनगमन है, जिसको तुम यह कहते हो कि यह कलंक मेरे माथे है, किन्तु मेरी दृष्टि में तो यह कलंक बहुत

अच्छा है। सुनकर आश्चर्य लगता है, किसी को कलंक लगे और कहा जाय बहुत अच्छा है ! किन्तु महर्षि ने उसे एक नया अर्थ दे दिया।

इसे यों कहा जा सकता है कि स्याही का रंग काला है पर जब उससे पुराण लिखा जाय तो अक्षर का वह कालापन अंधेरे के स्थान पर प्रकाश देने वाला हो जाता है। रामचरितमानस में भी कहा गया कि:—

लिखिय पुरान मंजु मसि सोई।

वस्तुतः महत्व इस बात का है कि उसके द्वारा लिखा क्या गया है ? उस स्याही के द्वारा भगवान के गुणानुवाद की रचना हुई। सफेद कागज पर शब्दों के रूप में जब वह स्याही लग गई, और कोई कहे कि इसने सफेद को काला कर दिया तो इससे बढ़कर ना समझी क्या होगी ?

महर्षि भरद्वाज ने कहा–"भरत ! अगर तुम्हारे ऊपर यह कालिमा न आती तो राम के दिव्य यश का जो वर्णन है वह कैसे होता ?" उन्होंने कहा–"भरत ! एक समस्या हम लोगों के सामने यह थी कि जब भी कोई साधक आकर प्रश्न करता था कि 'प्रेम क्या है', तो मैं 'अनुराग', 'स्नेह' आदि शब्द कह देता था। पर भरत ! उसे सुनकर लोगों को शब्द के बदले में शब्द ही तो मिलता था।" सुननेवाले का शब्दज्ञान भले ही बढ़ गया हो, किन्तु यह तो बोझ बना, अर्थ नहीं मिला। पर दूसरी ओर किसी से पूछे जाने पर कि 'गुलाब' का क्या अर्थ है, उत्तर में वह व्यक्ति गुलाब का फूल तोड़कर उसके हाथ में दे दे, तो वस्तुतः प्रश्नकर्ता को गुलाब का वास्तविक अर्थ मिल गया। शब्द के बदले शब्द देनेवाला नहीं, अपितु जो साकार करके सामने दे दे, वही सच्चा अर्थ–प्रदायक है।

महर्षि ने कहा कि भरत ! यद्यपि अब तक मैं शब्द के बदले शब्द का प्रयोग करता था, किन्तु मुझे स्वयं लगता था कि अर्थ तो निकला नहीं, पर आज तुम्हें देखकर लगा कि तुमने कृतार्थ कर दिया। अब प्रेम

का अर्थ शब्दों में बताने की आवश्यकता नहीं रही अपितु अब यदि मुझसे कोई पूछेगा कि प्रेम मानें ? तो मैं 'अनुराग' या 'स्नेह' शब्द न कहकर तुम्हें पकड़कर दिखला दूँगा कि प्रेम का अर्थ है – 'भरत'। यह साकार प्रेम है, इसे देख लो। महर्षि ने कहा :–

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरें देह जनु राम सनेहू।।
तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु।। २/२०८

यहीं संकेत रामचरितमानस में सर्वत्र मिलेगा। अयोध्यावासी यही बात पहले कह चुके हैं कि :—

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही।। २/१८३/४

शब्द के स्थान पर शब्द का प्रयोग तो व्यक्ति को केवल बौद्धिक ज्ञान ही दे सकता है, पर उसका वास्तविक तात्पर्य वह है जिसके लिए उस शब्द का प्रयोग किया गया है।

वर्णन आता है कि द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों को धर्म के दस लक्षण बताए। फिर एक दिन उन्होंने कौरवों तथा पाण्डवों की परीक्षा लेने के लिए उनसे पूछा कि धर्म के दस लक्षण क्या–क्या हैं ? अधिकांश छात्रों ने याद किए गए वे दसों लक्षण सुना दिए। द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर की ओर देखा – तुम कैसे चुप हो ? तुम भी बताओ। उन्होंने कहा–"सत्य" और फिर चुप हो गए। सब उपस्थित विद्यार्थी हँसने लगे कि ये तो सबसे बड़े हैं पर लगता है कि सबसे बड़े फिसड्डी भी यही हैं। दस में से केवल एक ही याद रहा, शेष सब भूल गए। चुप देखकर द्रोणाचार्य जी ने कहा कि यह ठीक है कि दस लक्षणों में से एक 'सत्य' भी है पर आगे के शेष लक्षण भी तो बताओ। किन्तु वे बार–बार सत्य कहकर चुप हो जाते। अन्त में द्रोणाचार्य जी ने पूछा कि क्या आगे के लक्षण

तुम्हें याद नहीं हैं ? युधिष्ठिर ने कहा–" गुरूदेव ! अभी तो इस प्रथम शब्द 'सत्य' के ही लक्षण को जीवन में उतारने की चेष्टा कर रहा हूँ, आगे नौ कौन –कौन से हैं, इसके बारे में बाद में विचार करूँगा।" ठीक इसी प्रकार एक ही शब्द 'राम' की आवृत्ति की जो बात रामचरितमानस में कही गई, उसका संकेत भी यही है।

भगवान शंकर से कहा गया कि आप सौ करोड़ रामायण का बटवारा कर दीजिए। भगवान शंकर ने कार्य सम्पन्न कर दिया। उनसे पूछा गया कि इस बटवारे के बदले में आप क्या लेंगे ? उन्होंने कहा कि बस एक 'राम' शब्द हमें दीजिए और पूरी रामायण आप लोग ले लीजिए।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि।। १/२५

'**राम**' का अर्थ रामायण भी है। क्योंकि भगवान राम के चरित्र की घटनाएँ ही तो रामायण में हैं। भगवान राम के गुणों का ही तो वर्णन रामायण में है। किन्तु राम शब्द को बार–बार दुहराने के पीछे क्या संकेत है, इस पर जरा विचार कीजिए।

रामनाम के जप में भगवान शंकर का क्रम बड़ा विचित्र है। नियम यह है कि विद्यार्थी वर्णमाला के स्वर, व्यंजन तथा अक्षरों से शब्द बनाना सीखता है। फिर वाक्य बनाना सीखता है। तत्पश्चात् वाक्य का अर्थ बनाना सीखता है। परन्तु शंकर जी उल्टी बात यह कहते हैं कि अर्थ से शब्द में आओ और शब्द से उसके अक्षर में आओ। कहा जाता है कि एक बार किसी ने भगवान शंकर के सामने 'राजा' शब्द का प्रयोग कर दिया तो भगवान शंकर उस शब्द को सुनते ही समाधि में चले गए। किसी ने कहा–"रात्रि", तो समाधि में चले गए। एक दिन तो किसी ने 'रावण' कहा तो भी समाधि में चले गए। पार्वतीजी को आश्चर्य हुआ कि इन शब्दों में ऐसा क्या चमत्कार है कि सुनते ही ये समाधि में चले जाते है ! इसलिए एक दिन उन्होंने कहा –"महाराज ! मैं एक बात आपसे पूछना चाहती हूँ पर शर्त यह है कि आप मेरी बात ध्यानपूर्वक

सुनें, समाधि में न चले जायँ।" शंकर जी ने कहा–"ठीक है, तुम प्रश्न पूछो।" पार्वती जी ने कहा–"महाराज ! आपको राजा, रात्रि या रावण शब्दों में ऐसा क्या विशेष रस प्राप्त होता है कि सुनते ही आप दिव्य समाधि के आनन्द में खो जाते हैं ?" शंकर जी ने कहा – "पार्वती ! आज तो तुमने बड़ा कष्ट दे दिया। मैंने तो आज तक इन शब्दों को सुना ही नहीं। क्योंकि जब भी किसी के मुख से 'र' अक्षर निकलता था तो मैं समझता था कि बस राम ही कहेगा और मैं 'राम' के आनन्द में डूब जाता था।"

रकारादीनि नाम्नानी श्रण्वतांमम पार्वती।
मन प्रसन्नताँ याति रामनमाभिशंकया।।

अब आप शंकरजी के इस क्रम पर दृष्टि डालिए–अर्थ से शब्द, शब्द से अक्षर और अक्षर में भी तीन में केवल एक ! और उसी एक को सुनकर समाधि में चले जाएँ। और हम सब अनेकानेक बार नाम लेकर भी समाधि में नहीं जाते ! समाधि की बात जाने दें, हम तो सच्चे आनन्द का भी अनुभव नहीं करते। शब्द के उच्चारण के समय क्या भाव व स्थिति होती हैं, इसका चित्रण प्राप्त होता है श्री भरत के चरित्र में।

जब श्री भरत चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हैं तो वे 'राम–राम' का उच्चारण करते हुए मार्ग में चलते हैं। यद्यपि राम शब्द तो वही है पर गोस्वामी जी कहते हैं कि जब श्री भरत जी उसका उच्चारण करते हैं तो ऐसा लगता है कि जैसे चारों ओर प्रेम उमड़ रहा हो।

जबहिं राम कहि लेहिं उसासा।
उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा। २/२१६/६

और विलक्षणता यह है कि :—

द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।

उन शब्दों को सुनकर पाषाण भी द्रवित हो जाते हैं। इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि जप करके, बार–बार उसकी आवृत्ति करके यह

अभ्यास किया जाय कि बस इस शब्द का अर्थ पता चल जाय। इसी को गोस्वामी जी कहते हैं –– ''नाम निरूपण,'' कि इसमें 'र' क्या है, 'अ' क्या है तथा 'म' में क्या है।

वन्दना–प्रसंग का प्रारम्भ करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि :

बदउँ नाम राम रघुबर को।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को।। १/१८/१

इन्हीं 'र' 'अ' और 'म' के द्वारा अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। तथा :––

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो।
अगुन अनूपम गुन निधान सो।। १/१८/२

इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि उस शब्द का चिन्तन करते–करते, जिसका हम चिन्तन कर रहे हैं, वह साकार हो जाय। जब 'रामनाम' का जप करते समय राम सामने आकर खड़े हो जायँ। बस यही 'राम' शब्द का अर्थ है। यह अर्थ ही परमार्थ है। कहने को तो बड़े – बड़े प्रवचन और भाषण करनेवाले भी कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रश्न यह है कि सचमुच उन्हें दिखाई देता है क्या ? नाम–वन्दना प्रसंग में गोस्वामीजी ने प्रहलाद के सन्दर्भ में एक बहुत सुन्दर सूत्र दिया। उन्होंने कहा–''यह युग ही मानों हिरण्यकशिपु हैं और जप करनेवाला जो साधक है, वही प्रहलाद है।

रामनाम नरकेसरी कनक कसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहिं दलि सुरसाल।। १/२७

चैतन्य महाप्रभु के जीवन में आता है कि वे महान वैयाकरण थे, बड़े विद्वान थे। गया में जब दिव्य भक्ति–भावना का उदय हुआ तो लौटकर आने के बाद, जब विद्यार्थी व्याकरण के सूत्रों का अर्थ पूछने लगे तो कह देते थे कि सबका अर्थ कृष्ण है। विद्यार्थियों को लगा कि गुरु जी तो पागल हो गए हैं। पर वस्तुतः परमार्थ प्राप्ति की यही स्थिति है।

प्रहलाद ने जब गुरुजी से भी कह दिया कि समस्त शास्त्रों का सार रामनाम ही है, तब उन्होंने तो सिर पकड़ लिया। किन्तु उनके इस वाक्य के पीछे भी यही दृष्टि है। हिरण्यकशिपु के अन्तःकरण में रामनाम के प्रति विद्वेष भरा हुआ है। वह प्रहलाद से रुष्ट भी तो रामनाम जप के कारण ही हुआ था। वह प्रहलाद से पूछता है कि तुम जिस राम का नाम लेते हो, वह कहाँ रहता है ? किन्तु प्रहलाद कहते हैं कि वह कहाँ नहीं रहता। हिरण्यकशिपु कहता है कि ईश्वर है ही नहीं और प्रहलाद कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है। वैसे तो शब्द से कोई भी सकता है कि ईश्वर सर्वत्र है, पर प्रहलाद को तो इसका सच्चा बोध भी है। इसीलिए भगवान सचमुच खम्भे से प्रगट हो गए। वे चाहते तो हिरण्यकशिपु के हृदय को फाड़कर उससे भी प्रगट हो सकते थे। वे चाहते तो हिरण्यकशिपु के हाथ में जो तलवार थी उससे भी प्रगट हो सकते थे। किन्तु उस स्तम्भ से प्रगट हुए जिससे प्रहलाद बँधे थे। मानों उन्होंने प्रहलाद के वाक्य को सत्य सिद्ध कर दिया कि ईश्वर चेतन में ही नहीं, जड़ में भी विद्यमान है। उन्होंने नरसिंह के रूप में प्रगट किया, इसका तात्पर्य है कि मनुष्य, पशु, जड़–चेतन सब में ईश्वर विद्यमान है। जब इस अर्थ की अभिव्यक्ति हो गई तभी हिरण्यकशिपु का विनाश होता है। ठीक इसी प्रकार हमारे जीवन में भी युग का हिरण्यकशिपु विद्यमान है और उसका भी विनाश तभी होगा जबकि उस शब्द स्मरण के पीछे सच्चा विश्वास हो और जब वह अर्थ प्रगट हो। मानो सूत्र यही है कि ईश्वर निर्गुण निराकार के रूप में सर्वव्यापक होते हुए भी व्यक्ति की समस्या का समाधान तब तक नहीं कर पावेगा, जब तक हमें उसे प्रगट करने की कला का ज्ञान न हो जाय। गोस्वामीजी कहते हैं कि जप के द्वारा नाम का निरूपण करने से वे प्रगट हो जाते हैं :—

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।। १/२२/८

और जैसे रत्न से मूल्य प्रगट हो जाता है, उसी प्रकार वे भी प्रगट

होकर हमारी समस्याओं का समाधान करते हैं।

महर्षि वाल्मीकि प्रभु से कहते हैं कि आप सर्वव्यापी हैं। किन्तु जब यह कहा जाता है कि श्री राम चित्रकूट आए तो प्रश्न यह है कि क्या वे अयोध्या को छोड़कर चित्रकूट आए ? जिस समय वे चित्रकूट में हैं, उस समय वे अयोध्या में नहीं हैं क्या ? इस प्रश्न का तो बड़ा सुन्दर निराकरण देते हुए उत्तरकाण्ड में कहा गया है कि एक बार कागभुशुण्डि जी महाराज श्री दशरथ के आँगन में भगवान श्री राम के साथ खेल रहे थे। खेलते–खेलते जब उनके मन में भ्रम होता है तो वे वहाँ से भागते हैं। पर जहाँ–जहाँ जाते हैं, वहाँ–वहाँ भगवान राम की भुजा को उपस्थित पाते हैं। वे कहते भी यही हैं कि :—

सप्ताबरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि।।

७/७६ (ख)

इस प्रकार मानों भगवान ने अपनी सर्वव्यापकता को प्रत्यक्ष दिखा दिया। इसका अर्थ है कि भगवान श्री राम अयोध्या में भी हैं, मिथिला में भी हैं और उसी समय चित्रकूट में भी हैं। और यही क्यों; प्रश्न यह है कि लंका में भी हैं या नहीं ? इसलिए एक भक्त ने भगवान से कह दिया कि यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरी एक बात मान लीजिए। भगवान राम ने पूछा–"और अगर प्रसन्न नहीं हूँ तो ?" भक्त ने कहा–"कोई बात नहीं तो फिर ऐसा कीजिए कि मुझे देश निकाला दे दीजिए।" और भगवान के सामने समस्या यह है कि वे अपने देश से बाहर कहाँ निकालेंगे? क्योंकि समस्त ब्रह्माण्ड उन्हीं के हैं" और जब वे सर्वत्र हैं तब तो इसका सीधा–सा अभिप्राय है कि वे लंका में भी हैं।

महर्षि वाल्मीकि ने जब कहा कि तुम सर्वत्र विद्यमान हो तो हँसकर प्रभु ने कहा कि नहीं महाराज ! मुझे तो देश निकाला दे दिया गया है। भगवान राम यद्यपि अयोध्या में हैं, पर प्रत्येक व्यक्ति को यही अनुभव हो रहा है कि चले गए हैं, कैकेई ने राम को अयोध्या से दूर भेज दिया है। यही स्थिति हमारे जीवन की है। भले ही श्री राम हमारे हृदय में

हों पर जब हमारे अन्तःकरण में मन्थरा जैसी वृत्ति आती हैं, स्वार्थ, भेद और तमोमयी वृत्ति आती है तो ईश्वर पास रहते हुए भी दूर प्रतीत होता है–'निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो' अयोध्याकाण्ड में बड़ी मीठी बात आती है। वर्णन आया कि जब भगवान राम चित्रकूट से श्री भरत को विदा करने लगे तो प्रभु ने पादुका दे दी और श्री भरत ने पादुका को सिर पर रख लिया। पर प्रश्न यह है कि पादुका तो चरण की वस्तु है, सिर पर रखने की नहीं, किन्तु श्री भरत ने सिर पर क्यों रखा ? और तब गोस्वामीजी ने लिखा कि वस्तुतः भरत पहिचान गए कि कौन हैं। वे कहते हैः––

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।।
भरत मुदित अवलंब लहे ते।
अस सुख जस सियराम रहेते।। २/३१५/४, ८

ये पादुकाएँ नहीं अपितु इनमें से एक श्री राम हैं तथा दूसरी श्री सीताजी। इसका अभिप्राय है कि श्री भरत भगवान श्री राम को लौटाने के लिए आए हैं और लोगों को लगता तो यही है कि प्रभु नहीं लौटे, भरत का व्रत सिद्ध नहीं हुआ। लेकिन भरत इस रहस्य को जानते हैं कि प्रभु और सीताजी तो सचमुच लौटकर जा रहे है। किसी ने प्रभु से पूछा कि अगर आपको दो रूपों में ही रहना था तो ऐसा भी तो कर सकते थे कि पादुका के रूप में वन में रह जाते और स्वयं श्री भरत के साथ लौट आते ? उस समय प्रभु ने यही कहा कि संसार के अन्य लोग मुझमें ही मुझको देख लें, यही बहुत है, पर पादुका में देखने की जो दृष्टि है, वह तो भरत के पास ही है। श्री भरत के राम सचमुच सर्वव्यापी हो गए क्योंकि उन्हें कण–कण में राम दिखाई दे रहे हैं।

करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही।
केहि वन राम लखन बैदेही।।
जे जन कहहिं कुसल हम देखे।

ते जन मनहुँ राम सम लेखे।। २/२२३/६

कैकेई और श्री भरत में यही अन्तर है। कैकेई के अन्तःकरण में जब मंथरा रूपी दुर्वृत्ति पैठ जाती है तो श्री राम होते हुए भी नहीं दिखायी देते। और जब हमारे हृदय में प्रेम का उदय होता है तो हमें श्री राम का साक्षात्कार होता है। इसलिए महर्षि के यह कहने पर कि 'आप सर्वत्र हैं, मैं क्या बताऊँ ?' जब प्रभु नहीं बोले तो उन्होंने कहा कि अब वे स्थान मैं तुम्हे बताता हूँ जहाँ तुम निवास करो। और तब महर्षि वाल्मीकि ने चौदह प्रकार के भक्तों का परिचय देते हुए कहा कि आप ऐसे भक्तों के हृदय में निवास कीजिए।

चौदह स्थान मानों, चौदह साधन हम लोगों के लिए बताए गए जिससे कि हमारे भीतर प्रेम उत्पन्न हो जाय। और फिर ईश्वर हमारे हृदय में ही नहीं बाहर भी प्रगट होकर हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करे। हमारे जीवन में प्रेम की प्रतिष्ठा हो, श्री लक्ष्मण और श्री सीताजी का आगमन हो। श्री लक्ष्मणजी जीवों के आचार्य हैं तथा श्री सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं। जब इन तीनों का निवास भक्तों के हृदय में होता है, तब सभी समस्याओं का समाधान होता है। इसके बाद की चर्चा कल करेंगे।

।। बोलिए सियावर राम चन्द्र की जय।।

(श्री रामः शरणं मम)

(२)

भगवान के निवास–स्थान के बारे में जो चर्चा पिछले कई वर्षो से चलती रही है उसका मूल़ सूत्र है कि जब तक हम उनकी उपस्थिति का अनुभव हृदय में नहीं करते, तब तक भले ही वे सर्वव्यापी हों, उनका लाभ हमें नहीं मिल संकता। अब प्रश्न यह आता है कि इसके लिए किस प्रकार के हृदय की आवश्यकता है ? महर्षि वाल्मीकि यदि कोई एक लक्षण बता देते कि जो व्यक्ति इस प्रकार का होगा, उसी के हृदय में भगवान का निवास होगा, तब तो एक सीमा हो जाती। पर चौदह प्रकार के हृदय बताने का तात्पर्य यही है कि यह कोई बाध्यता नहीं हैं कि भगवान एक ही प्रकार के हृदय में आते हैं। यही भक्ति की सुलभता है।

राम चरितमानस में एक पंक्ति कही गई:—

'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा'

इसका अभिप्राय है कि कर्म के मार्ग पर जब कोई व्यक्ति चलता है तो उसमे पुरुषार्थ की आवश्यकता है। योग्यता तथा सामर्थ्य की अपेक्षा है। यदि कोई ज्ञान के मार्ग पर चलना चाहता है तो उसके लिए तो कहा गया है कि :—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

ज्ञानमार्ग तो मानों कृपान की धार की तरह कठिन है। और इसकी तुलना में प्रश्न किया गया कि बताइए भक्तिमार्ग में क्या कठिनाइयाँ

हैं ? सीधा–सा तात्पर्य है कि ज्ञान और कर्म मार्ग से यह मार्ग सुगम है।

कर्ममार्ग में अपने कर्मो में परिवर्तन करना होगा। यदि कोई कर्म–यज्ञ से ईश्वर को प्रसन्न करना चाहे और उसमें समग्रता न हो तो स्वाभाविक रूप से उसका परिणाम कल्याणकारी होने की संभावना नहीं है। भक्ति की विशेषता यही है कि इसमें अपने आपको बदलने की आवश्यकता नहीं है ; अपितु आपके अन्तःकरण में, संस्कार में, हृदय में जो है, उसी को भगवान की ओर मोड़ दीजिए। मानों जो कुछ भी है उसे भगवान की दिशा में लगा देना ही भक्ति का सूत्र है। जिस दोहे की चर्चा आपके समक्ष चल रही है, उसका सरल अर्थ है कि महर्षि वाल्मीकि यह कहते हैं कि प्रभु ! जिनके स्वामी, सखा, गुरु, माता–पिता और सब कुछ आप ही हैं, उनके हृदय में निवास कीजिए। इसमें सम्बन्धों का जो नाम लिया गया उसका मनोविज्ञान बड़ा अनोखा है। व्यक्ति को जीव और शरीर की दृष्टि से अपने आप में अधूरेपन का अनुभव होता है, यद्यपि वह तात्त्विक दृष्टि से, अध्यात्म की दृष्टि से अधूरा नहीं है। और उस अधूरेपन की पूर्ति के लिए वह सम्बन्धों की आवश्यकता का अनुभव करता है। व्यक्ति को सम्बन्धों का बड़ा बल होता है। सक्षम – सशक्त सम्बन्धियों के बारे में हम यही धारणा रखते हैं कि समय आने पर वे हमारी सहायता करेंगे। पर संसार के व्यक्ति जिनसे हम सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वे बेचारे स्वयं भी अपूर्ण होते है। और ऐसा कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता है कि जो हमारी सारी आवश्यकताओं को पूरा का सके। इस सन्दर्भ में श्री हनुमानजी के सम्बन्ध में बड़ा मधुर संकेत आता है। वर्णन आता है कि सुग्रीव ने जब भगवान श्री राम और श्री लक्ष्मण को आते देखा तो वे भयभीत हो गए। सुग्रीव को लगा कि ये दोनो राजकुमार बालि के द्वारा भेजे गए हैं और मुझे मारने के लिए आ रहे हैं। तब उनके मन में यह बात आई कि 'मैं भाग चलूँ'। पर भागने से पहले उन्होंने हनुमान जी से कहा कि तुम ब्राह्मण का वेष बनाकर जाओ और पता लगाओ कि ये तेजस्वी राजकुमार कौन हैं ? उनसे परिचय प्राप्त करने के बाद तुम मुझे वहीं से संकेत दे देना।

अगर वे बालि के द्वारा नियुक्त मेरी खोज में आए हुए हों तो मैं यहाँ से भाग जाऊँगा। उनका शब्द यही हैः—–

अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगुल बल रूप निधाना।।
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसि जानि जियँ सयन बुझाई।। ४/०/१५-१६

सुग्रीव को डर लगा कि अगर हनुमानजी उनसे बातचीत करने के बाद चलकर आएँ और फिर उनके बारें में बताएँ, तब तक तो वे दोनों भी यहां पहुंच जायेंगे। सुग्रीव तो बड़े डरपोंक स्वभाव के थे। उन्होंने सोचा कि हनुमान जी तो अपने को बचाने में सक्षम हैं और मैं नहीं। इसलिए कहा कि आप वहीं से मुझे संकेत कर दीजिएगा। हनुमानजी ने कहा कि अगर शत्रु हों तो आप क्या करेंगे ? सुग्रीव ने कहा :

''भागौं तुरत तजौं यह सैला। ''

मैं भाग जाऊँगा। सुग्रीवजी भागने की कला में बड़े निपुण थे।

आगे चलकर जब हनुमानजी ओर प्रभु का मिलन हो चुका तो हनुमानजी ने कहा– ''प्रभु ! इस पर्वत पर बन्दरों के राजा सुग्रीव जी रहते हैं, और वे आपके बड़े सेवक हैं। मैं चाहता हूँ कि आप वहाँ चलकर उनसे मित्रता करें।''

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजै।
दीन जानि तेहि अभय करीजै।। ४/३/२.३

और प्रभु ने श्री हनुमानजी के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। और तब हनुमानजी ने यह प्रस्ताव रखा कि आप ऐसे न चलें अपितु आप दोनों मेरी पीठ पर बैठ कर चलें। हनुमानजी ने प्रभु को पीठ पर जो बैठाया उसमें कई संकेत हैं। उसमें एक संकेत सुग्रीव के लिए

है। सुग्रीव ने कहा था–संकेत कर देना। इसलिए हनुमानजी ने सोचा कि शत्रुता का भाव नहीं लेकर आए हैं, इसका संकेत इस तरह देना चाहिए। यद्यपि गोस्वामीजी यह भी लिख सकते थे कि हनुमानजी ने दोनों भाइयों को कंधे पर बैठा लिया। क्योंकि बहुधा आप चित्रों में और मूर्तियों में ऐसा ही देखते हैं। पर कन्धे पर बैठाने के स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं कि पीठ पर बैठाया।

एहि बिधि सकल कथा समुझाई।
लिए दुऔ जन पीठि चढाई।। ४/३/५

यद्यपि कन्धा और पीठ दोनों पास–पास हैं, किन्तु पीठ पर बैठाना कुछ अस्वाभाविक–सा लगता है। पर इसमें बहुत बड़ा संकेत है। कोई सशक्त व्यक्ति जब रक्षा के लिए प्रस्तुत होता है तो उसके लिए हिन्दी में एक शब्द प्रयुक्त होता है कि ये हमारे 'पृष्ठ–पोषक' है' अर्थात 'पीठ की रक्षा करने वाला'। इसका तात्पर्य है कि अगर सामने से आक्रमण करने के लिए कोई आ रहा हो तो व्यक्ति उसको देखकर उसका सामना कर अपनी रक्षा कर सकेगा। पर पीठ की ओर से आक्रमण से रक्षा के लिए पृष्ठ–पोषक की आवश्यकता होती है। बहुधा संसार में हम लोग पृष्ठ–पोषक की खोज मे रहते हैं कि कोई सत्ताधिकारी, सम्पन्न और सर्मथ व्यक्ति हमारा पृष्ठ–पोषक बन जाय। किन्तु जिसको हम पृष्ठ–पोषक बनाते हैं, उसके सामने भी समस्या है। उसको भी तो कोई पृष्ठ–पोषक चाहिए जो उस बेचारे की रक्षा करे।

हनुमानजी ने सुग्रीव को संकेत दिया कि घबराइए नहीं, मैं आपका पृष्ठ–पोषक लेकर आपके पास आ रहा हूँ। और पृष्ठ–पोषक भी ऐसा लेकर आ रहा हूँ जिसे स्वयं पृष्ठ–पोषक की आवश्यकता नहीं है। और भई ! ऐसा तो एक मात्र ईश्वर ही हो सकता है कि जिसे पृष्ठ–पोषक नहीं चाहिए। जीव को तो कोई न कोई पृष्ठ–पोषक चाहिए ही। जब

श्री हनुमानजी ने कहा कि आप दोनो मेरी पीठ पर बैठ जाइए तो प्रभु ने हनुमानजी से कहा कि तुम तो अभी मुझे साक्षात् ब्रह्म बता रहे थेः––

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार।।/४/१

और उस भुवनपति को पीठ पर धारण कर पाना सरल है क्या? हनुमान जी ने कहा – "प्रभु ! मैं भी यही समझता था, पर मेरे यह पूछने पर कि क्या आप ब्रह्म हैं, आपने जब यह कहा कि मैं दशरथ का पुत्र हूँ ––

कोसलेस दसरथ के जाए –– तो मुझे लगा कि अब ब्रह्म परिवर्तित रूप में आ गया है, जिसे जीव भी धारण कर सकता है। वैसे तो ब्रह्म ही सबको धारण करता है पर जब आप दशरथ के पुत्र बने होंगे तो उन्होंने आपको गोदी में अवश्य उठाया होगा, यह सोचकर ही मुझे भी यह कहने का साहस हो रहा है कि मैं आपको उठा लूँ।" प्रभु मुस्कुराए और कहा– "ठीक है, पिता जी तो मुझे गोद में उठाते थे, इसलिए आप भी हम दोनों को गोद में ही उठा लीजिए न !" हनुमानजी ने कहा – "नहीं महाराज ! मुझ में और महाराज दशरथजी में बड़ा अन्तर है। क्योंकि गोद में उठानेवाले को जिस वस्तु या व्यक्ति को उठाना है उसे पकड़े रहना पड़ता है। महाराज श्री दशरथजी तो आपको पकड़े रह सकते थे, पर मैं तो यही चाहता हूँ कि आप ही मुझे पकड़े रहें।" साथ–साथ यह भी संकेत कर दिया कि जिनके पास आपको लेकर चल रहा हूँ उनको भी आपको ही पकड़े रहना पड़ेगा। वे स्वयं आपको पकड़ने में सक्षम नहीं हैं। सचमुच यही तो हुआ, आगे चलकर निरंतर प्रभु ने ही सुग्रीव को पकड़े रखा।

व्यक्ति को अपने दुःख–संकट में सहायता करने के लिए सम्बन्धियों की आवश्यकता होती है। अतः सम्बन्धों की व्यक्ति को अपेक्षा होती है। पर व्यक्ति की एक सीमा है। वह उस सीमा तक ही किसी की रक्षा कर सकता है। सम्बन्ध के साथ एक बात यह भी है कि वह

आदान–प्रदान पर आधारित है। यदि आप किसी के लिए कुछ करते हैं तो बदले में वह भी आपके लिये कुछ करता है। इसलिए सांसारिक सम्बन्ध मनुष्य के लिए जहाँ सुख की सृष्टि करते हैं वहीं पर अनेक समस्याओं को भी जन्म देते हैं। इसलिए भक्तों ने इसका एक नया उपाय निकाला। उन्होंने कहा कि अगर हम सम्बन्ध जोड़कर ही अपने अभावों तथा दुःख–संकट का निवारण होना मानते है तो क्यों न हम भगवान से ही अपना सम्बन्ध जोड़ लें। उन्होंने कहा कि संसार में यदि नाता जोड़े तो एक व्यक्ति से एक ही सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है और उसी एक नाते के अनुकूल उससे व्यवहार होगा। पर भगवान के सन्दर्भ में विशेषता यह है कि आप चाहें जो नाता उनसे जोड़ लें। संसार की तरह नाता जोड़ने से पहले जाति, धर्म, समानता, अनुरूपता, योग्यता आदि विविध आधारों की भी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

भक्तों ने देखा कि संसार में व्यक्ति सम्बन्ध जोड़ने के लिए व्यग्र है, पर विडम्बना यह है कि वह अनेकानेक लोगों से भी सम्बन्ध जोड़कर अपने भीतर सुख की अनुभूति नहीं कर पा रहा हैं, तो क्यों न वह भगवान से ही नाता जोड़ ले ? इसलिए अवतारवाद की जो धारणा है उसका मूल तत्व भी यही है। भगवान सर्वव्यापी हैं या हृदय में निवास करते हैं तो फिर अवतार लेने का क्या अभिप्राय है ? इसके दो सूत्र हैं।

जिस समय देवताओं ने भगवान शंकर से पूछा कि भगवान कहाँ रहते हैं तो उन्होंने कहा कि वे कहाँ नहीं रहते हैं ? किन्तु देवताओं ने कहा कि जब ऐसी बात है तो फिर हमारे–आपके सबके हृदय मे तथा सर्वत्र रहनेवाला ईश्वर हमारी सहायता क्यों नहीं करता ? उस समय शंकरजी ने ईश्वर के लिए एक शब्द कहा –– "अग जग मय" –– वह है तो सर्वत्र व्यापक लेकिन– 'सब रहित" वह सबसे अलग भी है। कैसे ? तो इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक शब्द चुना – "बिरागी।"

अग जग मय सब रहित बिरागी।

इसका अर्थ है कि संसार में अनगिनत व्यक्ति हैं। न जाने कितनी अच्छी और बुरी घटनाएँ हो रही हैं। कितने जन्म और कितनी मृत्यु नित्य

हो रहे हैं। पर इन सबसे दुःख की अनुभूति नहीं होती। हमें दुःख उसके कारण होता है कि जिससे हमारी ममता या राग हो। वह सुखी हो तो हमें सुख होता है और दुःखी हो तो दुःख। "बिरागी" का तात्पर्य है, जिसका किसी से राग न हो, ममता न हो। वेदान्त का ब्रह्म यद्यपि अन्तःकरण में विद्यमान है, पर वह 'बिरागी' और "ममता रहित" है। इसी कारण से उसका कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। अब केवल दो ही उपाय हैं। या तो जब ईश्वर बिरागी है तो आप भी बिरागी बन जायँ या फिर बिरागी ईश्वर को ही रागी बना लीजिए।

वेदान्त यही कहता है कि आप बिरागी बन जाइए। पर उसकी जो पद्धतियाँ कही गईं उन्हें सुनकर बड़े – बड़े काँप उठते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने भी कह दिया कि :—

'निर्ममो निरहंकारो स शांतिम अधिगच्छति।'

– ममता–रहित तथा निरहंकारी ही शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु भक्तों ने कहा कि हम बिरागी बनें, इसके स्थान पर ईश्वर को ही रागी बना दें। यदि हम ममता का परित्याग न कर सकें तो भगवान ही ममता वाले हो जायँ। अवतार का अर्थ है कि जहाँ पर भगवान में ममता की सृष्टि की जाती है। जहाँ पर भगवान में राग की सृष्टि की जाती है। ईश्वर जब अवतार लेता है तो सम्बन्धों की शुरुआत हो जाती है। और भई ! यह व्यवहारिक भी है। क्योंकि ईश्वर जब अवतार लेगा तो किसी न किसी के गर्भ से ही लेगा। और जिसके गर्भ से लेगा, वह माँ हो जावेगी। जिसके माध्यम से वह जन्म लेगा, वह पिता हो जायगा। महाराज मनु के सन्दर्भ में यही बात आती है।

महाराज मनु ने कठिन तपस्या की। भगवान के प्रगट होने पर इसके परिणाम में वे माँग सकते थे कि आप मुझे आवागमन से मुक्त कर दें, पर उन्होंने ऐसा नहीं कहा। भगवान ने कहा – "मनु ! मैं परम प्रसन्न हूँ, जो माँगना हो माँग लो।" मनुजी ने कहा – "महाराज ! डर तो बहुत लग रहा है, पर जब आपने कह दिया है तो फिर :—

चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ।

बस इतनी कृपा कीजिए कि आपकी तरह पुत्र मुझे मिल जाय। पर प्रश्न यह है कि क्या महाराज मनु के पुत्र नहीं थे ? वर्णन तो यही आता है कि उनके कई पुत्र थे और वे पुत्र बड़े आज्ञाकारी थे, सेवक थे। तो क्या इतने पुत्रों से तृप्ति नहीं हुई जो और पुत्र चाहिए ? पर इसका भी सूत्र वही है।

मनु की बात सुनकर प्रभु मुस्कुराए – मनु ! तुम बड़े चतुर हो। तुमने मुझे असम्भव काम दे दिया। अपने समान ढूंढ़ूँ यह तो बड़ा कठिन काम है। भगवान के लिए कहा जाता है –– "न तस्य प्रतिमाऽस्ति" उसके समान कोई है ही नहीं। प्रभु ने यही कहा कि अब भला अपने समान मैं कहाँ खोजूँ ? इसलिए :––

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई।।१।१४६।२

मैं ही आपका 'तनय' हो जाऊँगा। 'तनय' शब्द का तात्पर्य है कि शरीर के माध्यम से जिसका जन्म हो।

भगवान राम जब मनु के सामने प्रगट हुए तो अकेले प्रगट नहीं हुए। यद्यपि मनु की प्रार्थना में एक ही के आगमन की कल्पना थी। किन्तु मनु देखते क्या हैं कि भगवान श्री राम के वाम भाग में एक दिव्य देवी विराजमान हैं। मुस्कुराकर प्रभु ने कहा कि इनका भी परिचय तुम मुझसे जान लो। भगवान श्री राम परिचय दे रहे हैं ––

आदि शक्ति जेहि जग उपजाया।

जो संसार का निर्माण करती है, यह वही आदिशक्ति मेरी माया हैं। मैं तो जन्म लूँगा ही पर मेरे साथ–साथ :––

"सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।"

यह भी अवतार लेंगी। यहाँ प्रभु का बड़ा मीठा विनोद है।

मनु के द्वारा यह कहा जा सकता है कि मैंने तो आपको ही पुत्र बनने के लिए कहा था पर आप पहले से ही कहे दे रहे हैं कि ये भी मेरे साथ आएँगी। किन्तु भगवान का विनोद यह था कि तुम मुझे पुत्र

बनां रहे हो और जब पुत्र बड़ा हो जाता है तो माता–पिता को उसके विवाह की चिन्ता हो जाती है कि पुत्र के योग्य ही कोई बहू मिले। इसलिए मैं बहू को भी साथ ही लेकर आ रहा हूँ ताकि बाद में चिन्ता न करनी पड़े क्योंकि इनके समान भी दूसरा कोई नहीं मिलेगा। अगर ध्यान से देखें तो हमे यह स्पष्ट लगेगा कि ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने में कितनी बड़ी सुविधा है। आप उसे बड़ा बनाइए तो वह बड़ा बनने को प्रस्तुत है और यदि छोटा बनाइए तो छोटा बनने को भी तैयार है। जगत पिता ईश्वर पुत्र बनने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता।

दो विशेष शब्द हैं 'अहं' और 'मम'। अहं मानों बीज है और ममता मानों उस बीज का वृक्ष के रूप में विस्तार है। इस वृक्ष का मूल एक है तथा शाखाएँ अनेक हैं। 'मै' मूल में है तथा सम्बन्धी सब अनेकानेक शाखाएँ हैं।

गोस्वामीजी ने रामायण में अलग–अलग भक्तों की वन्दना की है। और इसी क्रम में वे जब अयोध्यावासियों की वन्दना करने लगे तो वहाँ पर उन्होंने एक अद्‌भुत शब्द का प्रयोग किया। गोस्वामीजी ने जिन–जिन भक्तों की वन्दना की उनमें क्या–क्या गुण हैं यह भी बताया। परन्तु अयोध्यावासियों की वन्दना में उनके किसी गुण का वर्णन उन्होंने नहीं किया, अपितु वे लिखते हैं कि :––

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी।

मैं अयोध्यावासी स्त्री–पुरूषों की वन्दना करता हूँ। उनकी क्या विशेषता है ? तो गोस्वामी जी कोई विशेषता नहीं बताते अपितु कहते हैं कि :––

ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।।

भगवान श्री राम को अयोध्यावासियों के प्रति बड़ी ममता है। उचित तो यह था कि वे अयोध्यावासियों का कोई गुण बता देते पर आगे जो बात कहते हैं, वह तो अयोध्यावासियों का गुण न होकर उनका महानतम दोष है। पर क्या किया जाय, प्रभु की तो उन पर बहुत अधिक ममता

है। अब 'ममता' की विशेषता कहें या दोष कहें या व्यक्ति का स्वभाव कहें कि जिसमें हमारी ममता होती है, हमें उसका दोष दिखाई देना बन्द हो जाता है। गोस्वामीजी अगला वाक्य लिखते हैं कि – "सिय निंदक" – अयोध्यावासी श्री सीता जी के निंदक हैं। यद्यपि तुलसीदास जी श्री सीताजी के परित्याग की घटना का वर्णन तो कहीं नहीं करते पर इस एक वाक्य के द्वारा उस ओर इंगित अवश्य करते हैं। वैसे यह बात प्रचलित है कि धोबी ने एकान्त में अपनी पत्नी को फटकारते हुए श्री सीताजी पर लांछन लगाया। पर गोस्वामीजी अकेले उस धोबी का नाम न लेकर अयोध्यावासियों का नाम ले लेते है। हाँ ! विनय–पत्रिका में उन्होंने अवश्य–– **'सिय निंदक मति मंद प्रजारज'** – कहकर धोबी का नाम लिया। पर यहाँ पर वे कहते हैं कि ये अयोध्यावासी वे हैं जो श्री सीताजी के निंदक है। ऐसा कहने में उनका एक विशेष तात्पर्य है। यह ठीक है कि एक धोबी ने निदां की, पर क्या वह निंदा मात्र एक धोबी के द्वारा ही की गई थी ? आप इसके दूसरे रूप पर विचार कीजिए।

वर्णन आता है कि भगवान राम जब वन की यात्रा में जा रहे थे तो सारे के सारे अयोध्यावासी अपनी समस्त वस्तुओं का परित्याग कर भगवान राम के साथ जाने को तैयार हो गए। कैकेईजी के विरुद्ध विद्रोह करने को प्रस्तुत हो गए। यहाँ तक कि भरतजी के विरूद्ध विद्रोह करने को प्रस्तुत हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इस समय उन्होंने श्री सीता जी के त्याग का विरोध क्यों नहीं किया ? परित्याग भले ही रात्रि के एकान्त में हो गया था पर जब भी ज्ञात हुआ उस समय तो वे भगवान श्री राम से अपना विरोध प्रगट कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

गोस्वामीजी ने इसीलिए बार–बार यह बात उठायी कि क्या सभी लोगों को प्रसन्न करना सम्भव है ? इसका उत्तर यही है कि यदि आप यह आशा करें कि अच्छे कार्य करते हुए आप चलेंगे तो आपकी आलोचना समाप्त हो जायगी, आपमें कोई व्यक्ति दोष नहीं देखेगा, यह ठीक नहीं है, ऐसा होगा नहीं। अपितु कई बार यह विडम्बना भी होती है कि अच्छे

कार्य करने वाले के प्रति लोगों की आशा इतनी बढ़ जाती है कि उसके अनेकानेक कटु आलोचक हो जाते हैं। धोबी मुँहफट था पर कई लोग ऐसे भी होते है जो मन में सोचते तो है, पर प्रगट रूप से कहते नहीं। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि हो सकता है कि अनेक लोगों के मन में यह बात रही हो, क्योंकि कैकेई जी का इतना विरोध हुआ पर उस धोबी की बात पर किसी ने कोई आक्रोश प्रगट नहीं किया। तुलसीदास जी का तात्पर्य है कि बोलनेवाला ही केवल दोषी नहीं है। वाणी से भले ही वे निन्दा न करें, पर मन से वे समर्थक ही हुए। जिन भगवान श्री राम ने संसार के प्राणियों को सुख देने के लिए ऐसा दिव्य और लोक–कल्याणकारी राज्य बनाया हो, उनके प्रति या श्री किशोरी जी के प्रति यदि उनके मन में दोष की रंचमात्र कल्पना भी है तो गोस्वामी जी की दृष्टि में वे निन्दक ही हैं। इसलिए उन्होंने अयोध्यापुरवासियों की वन्दना में बड़ी चतुराई की और इसे समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में मुझे अपने जीवन के कुछ अनोखे संस्मरण स्मृति में आ रहे हैं।

वृन्दावन में जब मुझे रहने का सौभाग्य मिला तो उस समय एक सिंधी सन्त कोकिल सांई वहाँ विद्यमान थे। पूज्य स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने उनकी जीवनी एक पुस्तक के रूप में लिखी है। वे बड़े निरहंकारी सन्त–भक्त थे। वे गेरूआ पहिनते थे पर सबके पैर छूत थे। एक दिन किसी ने चरण छूने से रोक दिया तो यह सोचकर कि गेरुए वस्त्र के कारण लोग प्रणाम से रोकेंगे, दूसरे दिन से वे गेरुआ छोड़ सफेद वस्त्र पहिनने लगे। उनकी एक बड़ी विलक्षणता यह थी कि यद्यपि वे भक्त तो थे श्री राम के, पर रहते वृन्दावन में थे। इतना ही नहीं जब जब वे तीर्थयात्रा पर गए तो अयोध्या कभी नहीं गए, उसके आसपास से ही लौट आए। वे निरन्तर इस भाव मे रहते थे कि श्री सीता जी भगवान राम से दूर महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में हैं तथा भगवान राम अयोध्या में हैं। धोबी या प्रजा के सन्देह के कारण यह दूरी आ गई है। वे सन्त अपने को कोकिल (कोयल पक्षी) मानते थे और भावराज्य में वे श्री सीताजी का सन्देश लेकर भगवान राम के पास जाते थे तथा

भगवान राम का सन्देश श्री सीताजी को सुनाया करते थे। इसी भाव से युक्त एक दिव्य ग्रन्थ की रचना उन्होंने की है। वे सन्त कहा करते थे कि अयोध्यावासियों से बड़ा हमारा और कोई शत्रु नहीं है! हम तो उनका मुँह भी नहीं देखना चाहते। जिन दुष्ट प्रवृत्ति वालों ने हमारी जगतजननी श्री सीताजी की निन्दा कर दी ,उनका मुँह क्या देखना, यह उनकी भावना थी। आप लोग ऐसा निर्णय न ले लीजिएगा। सबका यही भाव हो जाय यह आवश्यक नहीं है। वे भावुक थे, उन्हें लगता था कि अयोध्यावासी किस तरह के लोग थे ? प्रभु ने उनके लिए इतना किया और इस पर भी उन्होंने उन परम पवित्र पतिव्रता जगन्माता श्री किशोरी जी के प्रति ऐसा व्यवहार किया ! गोस्वामीजी ने कहा कि :––

''तीय सिरोमनि सीय तजी,
जेहि पावक की कलुषाई दही है।''

अग्नि में सोना शुद्ध होता है। पर भगवान राम ने श्री सीताजी को अग्नि में रखा तो इसलिए नहीं कि श्री सीताजी को शुद्ध करना था, अपितु सत्य तो यह है कि उनके अग्नि में निवास करने से अग्नि के पाप नष्ट हो गए। ऐसी माँ पर भला, कलुष का आरोप !

तुलसीदासजी जब अयोध्यावासियों की वंदना करने लगे तो उन्हें उनकी वही बात याद आ गई। इसलिंए वे लिखते हैं कि वे अयोध्यावासी जो श्री सीता जी के निन्दक हैं, प्रभु ने उनके पापों को भी नष्ट कर दिया। और इतना ही नहीं जब भगवान श्री राम परमधाम की ओर प्रयाण करने लगे तो उन सबको भी साथ ही ले गए। कहा यही जाता है कि :––

'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।'

सारी प्रजा को लेकर भगवान राम अपने धाम गए। हम यह चाहते हैं कि निन्दक कहीं दूर रहें पर भगवान राम ने कहा कि जितने

अयोध्यावासी हैं उनमें से कोई रहने न पाए। और जब भगवान श्री राम ने देखा तो उन्हें लगा कि सब तो थे पर एक व्यक्ति दिखाई नहीं दे रहा है। भगवान राम ने पूछा –– "वह धोबी कहाँ है ? उसे तो बुलाओ! उसकी तो बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि कपड़े तो धोबी ही साफ किया करता है, वहाँ कौन साफ करेगा ?" गोस्वामीजी वाक्य भी यही लिखते हैः––

'सिय निंदक मतिमंद प्रजारज,
निज नय नगर बसाई।'

अयोध्या की तो बात ही क्या प्रभु परमधाम में भी उसे ले जाकर बसाते हैं। गोस्वामीजी से पूछा गया कि आप अयोध्यावासियों की वन्दना यह कह कर कर रहे है कि 'वे श्री सीता जी के निन्दक हैं तो इसके द्वारा आप बताना क्या चाहते हैं' ? उन्होंने कहा – "भाई ! हम अयोध्यावासियों को चाहें जितना बुरा समझे, भले ही उन्हें आलोचना योग्य मानें पर क्या करें, क्योंकि इन पुर नर–नारियों पर प्रभु की थोड़ी ममता नहीं है।"

'ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी।'

अब विचार कीजिए ईश्वर कितनी ममतावाला हो गया। यदि वह कर्म सिद्धान्तवाला ईश्वर होता तो इन लोगों को पकड़ कर नर्क में डाल देता। पर नहीं–नहीं, अब तो ममता् हो गई कि ये तो मेरे नगर में निवास करते हैं, ये तो मेरे हैं, मेरे सम्बन्धी हैं। वस्तुतः यह है ममता का प्रभाव।

भगवान में अगर ममता आ जाय तो हम लोगों को लाभ ही लाभ है। क्योंकि हमारे दोष तो मिटने वाले हैं नहीं पर अगर उन्हें हमसे ममता हो जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि ममता के कारण उन्हें हमारे दोष दिखाई देंगे नहीं। इसलिए किसी न किसी प्रकार से ईश्वर में ही ममता की सृष्टि करनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं कि व्यक्ति अपने जीवन में दोष ले आए या उस ममता का दुरूपयोग करने की

चेष्टा करे, अपितु इसका सीधा–सा अर्थ है कि प्रयत्न यह किया जाय कि जिससे ईश्वर में ममता उत्पन्न हो जाय।

'वेदान्त का ब्रह्म अविकारी है,' –इससे तो यही लगता है कि फिर उसकी मित्रता भी अविकारियों से ही होगी। क्योंकि नियम यह है कि–– 'समान शील व्यसने सुसख्यं' – मित्रता समानतावालों में होती है। किन्तु भक्तों ने इसका दूसरा उपाय सोचा। उन्होंने कहा कि ईश्वर के समान हम बन जायँ, यह तो बड़ा कठिन है। इसलिए क्यों न ईश्वर को अपने समान बना कर उससे मित्रता का प्रयास किया जाय। 'मानस' में तो भगवान राम और सुग्रीव की मित्रता का वर्णन आता ही है। हनुमानजी श्री राम और श्री लक्ष्मण को लेकर सुग्रीव जी के पास गए। दोनों को बैठाकर, प्रभु की कथा सुग्रीव जी को सुनाई तथा सुग्रीव जी की कथा प्रभु को सुनाई। फिर उन्होंने अग्नि की साक्षी में मित्रता कराई। इस कार्य के पीछे उनका बड़ा मधुर संकेत है।

हनुमानजी ने जब प्रभु को पहिचान लिया तो यह भी तो हो सकता था कि वे सुग्रीव.जी को संकेत कर देते कि उतर कर नीचे आओ और प्रभु का स्वागत करो। पर उनसे उतरने के लिए न कहकर प्रभु से ही चलने को कहा और साथ–साथ यह भी कहा कि :––

'तेहि सन नाथ मयत्री कीजै।'

आप चलकर उनसे मित्रता कीजिए और मित्रता कराने के लिए

'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।।'

वे अग्नि को बीच में साक्षी रखकर मित्रता कराते हैं। हमारे यहाँ विवाह में भी पति–पत्नी का जो सम्बन्ध जुड़ता है, वह भी अग्नि की साक्षी में सम्पन्न होता है। इसमें कन्या जब वाम भाग में आती है, तब वर को कुछ व्रत लेने पड़ते है और जीवन में उनका निर्वाह करना पड़ता है। वर और कन्या का यही सामन्जस्य है। यद्यपि भगवान राम ने निषादराज से मित्रता की, पर वहाँ अग्नि नहीं जलाई। विभीषणजी को

मित्र बनाया पर वहाँ पर भी बीच में अग्नि की साक्षी नहीं रखी गई, पर जब सुग्रीव जी से मित्रता होने लगी तो हनुमान जी ने यही कहा कि प्रभु ! यह तो अग्नि की उपस्थिति में होनी चाहिए। इसका तात्पर्य वही है जो कि हनुमान जी पहले ही कह चुके हैं।

श्री हनुमान जी ने कहा था–प्रभु ! आप चलकरके मित्रता कीजिए। इसका अभिप्राय यही था कि यदि सुग्रीव आकर आपसे प्रार्थना करें कि आप मुझे मित्र बना लें तो ऐसी स्थिति में उन्हें मित्र के कर्त्तव्य का पालन करना होगा और अगर आप ही जाकर मित्र बनाएँगे तो वे चाहें मित्र के कर्त्तव्य का पालन न भी करें पर आपको तो मित्रता निभानी ही पड़ेगी। इसलिए अच्छा हो कि आप ही मित्र बनावें।

यही चतुराई विनय–पत्रिका में गोस्वामी जी करते हैं। प्रभु ने पूछा कि मेरा और तुम्हारा क्या नाता है ? उन्होंने कहा–महाराज !

ब्रह्म तू हौं जीव तू ठाकुर हौं चेरो।
तात मातु गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो।।

वही बात जो इस दोहे में है:—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्ह के सब तुम्ह तात।

उन्होंने सब गिना दिया। आप ब्रह्म हैं, मैं जीव हूँ। आप स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ। आप मेरे गुरु हैं, माता हैं, पिता हैं, सब कुछ आप ही तो हैं। भगवान ने कहा कि सब है, यह तो ठीक है पर उनमें से कोई एक नाता तो चुन लो कि तुम कौन सा नाता चाहते हो। गोस्वामी जी ने कहा–महाराज! मैंने तो गिना दिए पर अब चुनना मुझे नहीं आपको है।

मोहि तोहि नाते अनेक मानिए जो भावै।

आपको जो अच्छा लगे वह मान लीजिए। उनका भी सूत्र वही है कि मैं यदि चुनूँगा तो क्या उस नाते का निर्वाह कर पाऊँगा ? पर जब आप मान लेंगे तो निर्वाह की चिन्ता भी आपको ही करनी होगी।

सुग्रीव और भगवान की मित्रता हनुमानजी अग्नि को साक्षी रखकर कराते हैं। यहाँ भगवान तो स्वयं दिव्य तेजयुक्त हैं, मानों अग्नि स्वरूप हैं और सुग्रीव काष्ठ की भाँति हैं। यद्यपि उस समय तो प्रभु मुस्करा कर ही रह गए पर बाद में एक दिन कहा कि हनुमान ! अग्नि और काष्ठ दो हों तो अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, यह तो ठीक है, पर उस समय वहाँ एक तीसरा भी होता है जो दिखाई नहीं देता। भले ही अग्नि और लकड़ी साथ–साथ हो, पर अगर वायु बन्द हो जाय तो अग्नि नहीं जलेगी। इसी तरह हम दोनों की मैत्री में यदि पवननन्दन तुम नहीं रहोगे तो यह अग्नि प्रज्जवलित नहीं रहेगी। प्रभु ने मित्र बना लिया। और सचमुच निर्वाह की कितनी चिन्ता है उन्हें, यह आगे चलकर दिखाई देती है।प्रभु तो अत्यन्त सामर्थ्यवान हैं। जब विभीषणजी शरण में आए तो सुग्रीव जी ने चिन्ता व्यक्ति की – प्रभु !

जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया।।
भेद हमार लेन सठ आवा। ५/४२/६.७

यह तो भेद लेने आया है। प्रभु ने मुस्कुराकर कहा कि अगर वह भेद लेने आया है तो यहाँ तो बड़ी सुविधा है भेद लेने की, और मित्र यहां तो केवल एक ही भेद है:––

जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते।। ५/४३/७

संसार में जितने राक्षस हैं, अकेला लक्ष्मण सबका संहार कर सकता है। सुग्रीव विषयों में फंसकर प्रभु को भूल गए पर सचमुच नाते की चिन्ता तो प्रभु को है। गोस्वामी जी विनय–पत्रिका में किशोरीजी से कहते है। माँ !

बानि बिसारन शील है मानद अमानी।।

हमारे प्रभु चार बातें भूल जाते हैं। कौन कौन सी बातें ? बोले – 'निज कृत हित' – अपने द्वारा किया गया भला। दूसरा –'अरिकृत

अनहितउ' – शत्रु के द्वारा किया गया बुरा। और तीसरा? बोले —– 'दास दोष' – सेवक के दोष। और चौथा ? बोले —– 'न चित रहति सुरति किए दान की।' – वे अपने द्वारा दिया गया दान भूल जाते हैं। यद्यपि सुग्रीव नहीं आए, पर प्रश्न यह है कि क्या प्रभु सुग्रीव की सहायता के बिना लंका पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते ? रावण को नहीं मार सकते ? जबकि वे स्वयं ऐसा कहते हैं कि अकेले लक्ष्मण ही सारे राक्षसों का संहार कर सकते है। जब सुग्रीव नहीं आए तो प्रभु को अपना ऐश्वर्य प्रगट करना चाहिए था। वे कह सकते थे अरे ! सुग्रीव नहीं आए तो क्या हुआ, क्या उसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा ? पर वे ऐसा नहीं कहते हैं, अपितु आज एक नई बात कहते हैं। आज तो उन्हें अपना किया गया भला भी याद आ गया। कहने लगे कि लक्ष्मण! देखा तुमने —–

सुग्रीवहुं सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी।। ४/१७/४

मैंने उसे राज्य दिलाया, सम्पति दिलाई और पत्नी दिला दी। पर इतना होने के पश्चात् भी यह सुग्रीव मुझे भूल गया। ऐसी बात प्रभु ने अन्य किसी प्रसंग में नहीं कही। वैसे प्रभु को क्रोध नहीं आता पर यहाँ क्रोध भी आ गया। और कहने लगे —–

जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१७/५

इसलिए मैंने यह निर्णय किया है कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया है, कल उस मूर्ख सुग्रीव को भी उसी बाण से मारुँगा। और जब प्रभु सब कह चुके तो लक्ष्मणजी को लगा :—–

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।

वे सोचने लगे कि यह अभिनय कैसे बदल गया ? यह क्रोधवाली भूमिका तो मेरी ही रहा करती थी, पर मुझे आज क्रोध नहीं आया, और इनको आ गया !

लक्ष्मणजी प्रभु से बड़ा प्रेम करते हैं। उनको लगा कि यदि प्रभु सुग्रीव को मार देंगे तो यह ठीक नहीं होगा। उनको अपयश मिलेगा। रामचरितमानस में कहा गया है कि भगवान राम की कीर्ति तो पताका है और लक्ष्मण जी दण्ड हैं। तो डंडा जैसे झंडे को ऊपर उठाए रखता है, वैसे ही वे भी भगवान की यश पताका को ऊपर उठाए रहते हैं। उन्हें चिन्ता हुई कि अगर प्रभु सुग्रीव को मार देंगे तो उनकी जो प्रशंसा की जाती है, उसके स्थान पर निन्दा की जाने लगेगी। लोग कहेंगे कि प्रसन्न थे तो राज्य दे दिया और रुष्ट हो गए तो प्राण ले लिए। इसलिए अच्छा उपाय यही है कि अगर मारना ही है तो यह कार्य मैं करूँ। मैं तो प्रसिद्ध क्रोधी हूँ ही। मेरे मारने से लोग यही कहेंगे कि लक्ष्मण तो थे ही क्रोधी, मार डाला होगा, प्रभु ने मारने के लिए थोड़े ही कहा होगा! इसलिए लक्ष्मणजी ने प्रभु से कहा कि आप यह कार्य मुझे दे दीजिए। प्रभु ने कह दिया था, कल मारूँगा। किन्तु लक्ष्मण जी ने कहा–"महाराज ! कल नहीं, आज ही।" और जब श्री लक्ष्मण धनुष–बाण लेकर चले तो भगवान राम ने मुस्कराकर कहा–"लक्ष्मण ! क्या तुम यह समझ रहे हो कि सचमुच उसे मारना है ?"

भगवान श्री राम के इस वाक्य ––

जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१७/५

को सुनकर पार्वतीजी भगवान शंकर की ओर देखने लगी महाराज! सुग्रीव पर उन्हें इतना क्रोध आ गया! भगवान शंकर ने तुरंत कहा – "पार्वती !

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा।
ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा।।" ४/१७/६

जिन प्रभु की कृपा से दूसरों का अभिमान, क्रोध नष्ट हो जाता है, क्या उनको स्वप्न में भी क्रोध आ सकता है ? अरे ! उन्होंने तो क्रोध का ऐसा बढ़िया अभिनय किया कि वह लक्ष्मण जी को सही लगा।

भगवान ने लक्ष्मणजी को समझाया कि मारना नहीं है। वस्तुतः सुग्रीव बालि के डर से मेरी शरण में आया था। बालि मर गया तो डर भी छूट गया। इसलिए जाकर उसे जरा डराओ। वह तो पक्का डरपोक है और तुम डराने की कला में निपुण हो। जब लक्ष्मणजी जाने लगे तो फिर हाथ पकड़ लिया। बोले–"लक्ष्मण ! डराना अवश्य, पर इस प्रकार डराना कि डर कर वह दूर न भागे, अपितु डर कर इधर ही चला आवे।"

तब अनुजहिं समुझावा रघुपति करूना सींव।
भय देखाई लै आवहु तात सखा सुग्रीव।। ४/१८

मित्रता करते समय सुग्रीव जी लजाए हुए हैं – महाराज ! हमारी आपकी क्या मित्रता ! भगवान राम कहते हैं कि हमारी–तुम्हारी मित्रता ही तो बिल्कुल ठीक है। क्योंकि तुम्हारा राज्य छिन गया है और मेरा भी राज्य छिना हुआ है। तुम्हारी पत्नी का हरण हुआ है और मेरी पत्नी का भी हरण हो चुका है। हम–तुम बिल्कुल समान स्थिति में हैं इसलिए हमारी–तुम्हारी मित्रता तो बिल्कुल ठीक रहेगी। यदि राग है, ममता है तब तो कहना ही क्या, ईश्वर तो क्रोध आ जाने पर भी मित्रता के निर्वाह के लिए सजग है। जो क्रोध में भी कल्याण की ही बात सोचता है उससे हम सम्बन्ध बनाने का निवेदन करें, और वह सम्बन्ध के नाते हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

सम्बन्ध की आवश्यकता तो जीव को है ही, पर संसार के सम्बन्ध अधूरे हैं, इसलिए महर्षि वाल्मीकि जी कहते है कि अगर हमें सम्बन्ध ही जोड़ना है तो ईश्वर को ही सम्बन्धी बनाकर उससे प्रार्थना करें कि:––

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम तात।

मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।। २/१३०

आगे की चर्चा कल।

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

(श्री रामः शरणं मम)

(३)

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम तात।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।। २/१३०

रामचरितमानस में दो पात्र ऐसे हैं जिनके चरित्र में इस दोहे में वर्णित सम्बन्धों की समग्र भावनाएँ दिखाई देती हैं। वे दो पात्र हैं श्री लक्ष्मण और श्री हनुमानजी। वैसे कुछ भक्त ऐसे होते हैं कि जो संसार से अनेक सम्बन्ध रखते हुए भगवान से भी एक नाता मान लेते हैं। और उस एक नाते को मानकर भी व्यक्ति धन्य हो सकता है। पर यहाँ इस दोहे में जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिसके समग्र सम्बन्धों की भावना केवल भगवान से है, अन्यत्र नहीं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि श्री लक्ष्मण से भगवान श्री राम का क्या नाता है ? तो बुद्धिमान व्यक्ति के सामने बड़ी समस्या आ जाएगी। यद्यपि बहिरंग दृष्टि से तो व्यक्ति यही कहेगा कि वे भगवान श्री राम के छोटे भाई हैं। किन्तु यदि अन्तराल में पैठकर देखा जाय तो यह परिचय पूर्ण नहीं हैं। आइए इसकी चर्चा जरा विस्तार से करें।

नातों के भी कई रूप होते हैं। कुछ नाते तो वे हैं जो शरीर के सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। और कुछ नाते वे हैं कि जिनका सम्बन्ध शरीर से न होकर भावनाओं से हैं। सांसारिक सम्बन्धों का केन्द्र बिन्दु शरीर हैं। उन्हें हम माता–पिता कहकर सन्मान देते हैं जिनके माध्यम से हमारे–आपके शरीर का जन्म हुआ। इस तरह से कुछ नाते शरीर के सम्बन्ध से हैं। संसार में और भी कई नाते ऐसे हैं कि जिनका सम्बन्ध रक्त से नहीं है, जैसे पति और पत्नी। दोनों का जन्म

अलग–अलग घरों में या स्थान, परिवार में होता है, पर बाद में भावना के आधार पर उनमें एक ऐसा सम्बन्ध जुड़ जाता है जो शरीर के सम्बन्ध से भी ज्यादा प्रग़ाढ़ भावनात्मक होता है।

भगवान का नाता तो दोनों प्रकार का हो सकता है। शरीर के संबंध से भी भगवान से नाता जुड़ सकता है, जैसे कि महाराज मनु और महारानी शतरूपा के साथ जुड़ा। महाराज मनु जब भगवान से पुत्र बनने की प्रार्थना करत हैं, तो स्वाभाविक रूप से उनका तात्पर्य है कि आप मेरे शरीर के माध्यम से जन्म लें। भगवान उनकी भावना की रक्षा करने के लिए शतरूपाजी के गर्भ मे आते हैं। यही लिखा गया कि:–

जा दिन ते हरि गर्भहिं आए।

यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि जब तात्विक दृष्टि से ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है तो क्या वे कौशल्या जी के गर्भ में नहीं थे जो कहीं अन्यत्र से आए ? इस सन्दर्भ में पहले भी यह चर्चा चल चुकी है कि 'होना एक बात है' तथा 'होने का अनुभव होना' उससे भिन्न बात है। भगवान सर्वव्यापी हैं, प्रत्येक के हृदय में निवास करते हैं, ऐसा कहा गया, किन्तु ऐसा होने पर भी उनके होने का प्रमाण क्या है ? अगर हमारे जीवन में दीनता, हीनता, दरिद्रता तथा दुःखादि बने हुए हैं। तो इसका सीधा–सा अर्थ है कि भगवान के होने का कोई प्रमाण या लक्षण हमें नहीं दिखाई दे रहा है। किन्तु यहाँ पर गोस्वामी जी कह रहे हैं कि जिस दिन से भगवान का गर्भ में आगमन हुआ, उस दिन से जीवन में भी उसका प्रभाव दिखाई देने लगा।

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए।
सकल लोक सुख सम्पति छाए।।
मंदिर महँ राजहि सब रानीं।
सोभा सील तेज की खानीं।। १/१८६/६-७

अयोध्या में सुख, सम्पत्ति, शोभा, शील और तेज आदि की वृद्धि होने लगी।

गोस्वामीजी के सामने एक समस्या थी। यदि यह कहें कि भगवान का जन्म हुआ तो इसमें तात्विक दृष्टि से दोष है। ईश्वर तो अजन्मा है। और यदि जन्म कहें तो उसके साथ फिर मरण की समस्या जुड़ जाती है। क्योंकि जन्म के पश्चात् मृत्यु तथा मृत्यु के पश्चात् जन्म अवश्यम्भावी है। गीता में इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया:–

"जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

—— और यदि जन्म न मानें तो फिर कौशल्या जी को सन्तोष नहीं होगा। वस्तुतः माता कौशल्या की मातृभावना को सन्तोष तो तभी हआ कि जब उन्हें यह आभास हुआ कि 'भगवान हमारे उदर में आ गए हैं'।

जिस समय मनु और शतरूपा ने साधना की तो भगवान श्री राम और श्री सीता जी उनके सामने आए। मनुजी ने वरदान माँगा कि मैं आपके समान एक पुत्र चाहता हूँ। भगवान ने उन्हें वरदान दे दिया। उसके बाद उनकी दृष्टि शतरूपाजी की ओर गई। उनसे भी उन्होंने कहा:——

देबि माँगु बरु जो रुचि तोरे।

आपकी जो रूचि हो वह आप भी माँग लें। किन्तु शतरूपा जी की माँगने की कला अद्भुत है। वे कहती है कि :——

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा।
सोइ कृपालु मोंहि अति प्रिय लागा।। १/१४६/४

प्रभु ! चतुर महाराज मनु ने जो वरदान मांगा वह मुझे भी अतिप्रिय लगा। इस प्रकार मानों उन्होंने महाराज के वरदान का समर्थन भी कर दिया और यह भी कह दिया कि यह तो इनकी याचना है। वस्तुतः दोनों की प्रकृति में अन्तर है। महाराज दशरथ भावुक हैं पर कौशल्या जी में भावना से विचार का तत्व अधिक प्रबल है। वैसे तो विचार और भावना दोनों का ही अपना–अपना आनन्द है। तुलसीदासजी महाराज ने मनु और शतरूपा जी के लिए जो उपमा दी, वह इससे भिन्न प्रकार की

है। वर्णन आता है कि जिस समय वे दोनों साधना के लिए नैमिषारण्य की ओर जा रहे हैं, उस समय उपमा देते हुए कहा गया कि :––

पंथ जात सोहहिं मति धीरा।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा।। १/१४२/४

महाराज मनु मानों ज्ञान हैं और शतरूपा जी भक्ति हैं। पर व्यवहार में बिल्कुल उल्टा हो गया। ज्ञान–स्वरूप ने भक्तिमूलक वरदान माँगा और भक्त ने विवेकमूलक वरदान माँग लिया क्योंकि श्री रामचरितमानस एक समन्वयवादी ग्रन्थ है।

समाज में कुछ लोग भावना को अत्यधिक महत्व देते है और दूसरी ओर कुछ लोगों की मान्यता होती है कि भावना तो एक क्षणिक आवेश है, इसलिए विचार ही सत्य है और इसी से व्यक्ति का कल्याण होता है। अब समस्या यह है कि अगर दो वस्तुएँ हों और आपने दोनों को चखा हो, तब तो उनके स्वाद या गुण की तुलना ठीक है। पर यदि आपने केवल एक को ही चखा हो और दूसरे के बारे में यह कह दें कि उसमें क्या रखा है, तब इसे तो उचित निर्णय नहीं कहा जा सकता। इसलिए गोस्वामी जी कहते है कि ज्ञानी अब जरा भावना का रस ले ले तथा भावुक जन जरा विचार का आनन्द ले लें। यह परिवर्तन की प्रक्रिया इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसलिए ज्ञान ने भक्तिमूलक भावना के साथ वरदान माँगा। यद्यपि शतरूपाजी भक्तिमयी हैं पर उनके शब्द चुने हुए हैं। वे कहती हैं–"प्रभु ! आपने इन्हें जो दिया है, वह तो सहज ही मुझे प्राप्य है। किन्तु मुझे तो कुछ और भी चाहिए।" फिर उन्होंने भगवान के सामने अपनी छः माँगे और रखी और वे माँगे हैं:––

जे निज भगत नाथ तव अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु।।१/१५०

आपके भक्त जो सुख, गति, भक्ति, पद–प्रेम, विवेक और रहनी प्राप्त करते हैं वे सब आप मुझे प्रदान करने की कृपा करें।

मनुजी को वरदान देने के बाद भगवान जब शतरूपा जी की ओर देखते हैं तो उन्हें 'देवि' कहकर सम्बोधित करते हैं क्योंकि अभी कोई नाता नहीं है इसलिए भगवान ने कहा :—

''देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें।''

परन्तु उनके द्वारा बरदान मांगे जाने के बाद भगवान ने कहा कि आपने जो माँगा, वह सब मैंने आपको दिया।

जो कछु रुचि तुम्हरें मन माहीं।
मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।। १/१५०/२

पर उन छः वस्तुओं में से एक को भगवान ने विशेष महत्व दिया। ऐसा लगता है, मानों रेखांकित कर दिया हो। भगवान ने महाराज मनु को पिता कहकर सम्बोधित नहीं किया है। उन्हें तो वे राजन ही कहते रहे पर शतरूपा को उन्होंने माता कहकर पुकार दिया। जबकि अभी न तो पुनर्जन्म हुआ है और न गर्भ में ही आए हैं। प्रभु का वाक्य यही है कि:—

''मातु बिबेक अलौकिक तोरें।

माँ ! आपका विवेक धन्य है। मनुजी जब दशरथ बनेंगे तब उन्हें पिता कहेंगे पर शतरूपा जी को माँ अभी कह दिया। मानों भगवान श्री राम का संकेत यह है कि ये तो शरीर से पुत्र का नाता चाहते हैं इसलिए शरीर से बेटा बनने पर उनको पिता कहूँगा। पर आप तो विवेकी हैं, विवेक का वरदान चाहती हैं, अतः बिना शरीर के ही आप इस सत्य को समझ सकती हैं। इसका अभिप्राय है कि शरीर से नाता चाहिए तब तो लंबे समय की अपेक्षा है, पर अगर भावना से सम्बन्ध जोड़ना हो तो उसमें देरी की कोई बात नहीं है। भाव का नाता तो तुरन्त ही जुड़ जाता है। अतः भगवान कहते हैं कि :—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें।
कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।। १/१५०/३

माँ मैं तुम्हें आश्वासन देता हूँ कि तुम्हारा विवेक कभी नहीं मिटेगा।

उसके पश्चात् भगवान ने महाराज मनु की ओर देखकर जानना चाहा कि इनके छहों वरदानों में आपको भागीदार बनना है क्या ? आपको ये सब कैसे लगे ? और साथ ही भगवान ने विवेक पर विशेष जोर देकर मानों उन्हें ललचाया भी कि सबसे बड़ी वस्तु विवेक ही है। पर महाराज मनु तो अनोखे निकले। उन्होंने कहा कि मैं आपसे यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आप मुझे विवेक कभी भी न दें। आप पुत्र बनकर जन्म लें और मैं आपको सर्वदा पुत्र ही समझता रहूँ, ईश्वर नहीं। मैं जानता हूँ कि महारानी को ज्ञानी माना जाएगा और मुझे कहा जा सकता है कि आप अपने पुत्र को ठीक से नहीं पहिचानते, परः——

सुत विषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।। १/१५०/५

मैं विवेक नहीं चाहता, चाहे मुझे संसार का सबसे बड़ा मूर्ख ही क्यों न मान लिया जाय। विवेक इनको ही दीजिए, मुझे नहीं। और प्रभु तो बड़े कौतुकी हैं। उन्होंने यही किया।

गोस्वामीजी भगवान श्री राम के अवतार लेने के सन्दर्भ में दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। एक तो 'जन्म' तथा दूसरा 'प्रगट'। एक स्थान पर यदि वे लिखते हैं कि ——

जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल।। १/१६०

तो आगे चलकर वर्णन करते हुए वे 'प्रगट' शब्द का प्रयोग करते हैं।

नौमी तिथि मधु मास पुनीता।
सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।।
मध्यदिवस अति सीत न घामा।
पावन काल लोक विश्रामा।।

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।
हरषित सुर संतन मन चाऊ।।
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा।
स्रवहिं सकल सरिताऽमृतधारा।।
सो अवसर बिरंचि जब जाना।
चले सकल सुर साजि बिमाना।।
गगन बिमल संकुल सुर जूथा।
गावहिं गुन गधर्ब बरूथा।।
बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी।
गहगहि गगन दुंदुभी बाजी।।
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा।
बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा।।
सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।। १/१६१

अथवा

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।

यहाँ पर भी "प्रगट" शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे यों कह लीजिए कि "जन्म" का अभिप्राय है भावना का आनन्द तथा "प्रगट" का अर्थ है विवेक की अनुभूति। विवेकी कहेगा कि भगवान जन्म क्या लेंगे ? वे जन्म और मृत्यु की समस्या से ऊपर हैं। वे थे तो सर्वत्र पर अव्यक्त रूप से थे, किन्तु अब जब प्रगट हो गए तो व्यक्त होकर दिखाई देने लगे। इसका सीधा–सा अर्थ यह है कि भगवान तो भाव और विवेक दोनों का ही समन्वय करते हैं। वे यदि "जन्म" लेते हैं तो "प्रगट" भी होते हैं।

भगवान श्री राम ने महाराज श्री दशरथ के समक्ष अपना चमत्कार या ऐश्वर्य पूरे रामचरितमानस में कहीं भी प्रगट नहीं किया, बस वे पुत्र ही बने रहे। और भई ! सही बात है, पूरा रस लेने के लिए विवेक से थोड़ा दूर रहना आवश्यक भी है। आप नाटक देखने जायँ और भावना

न रखकर यदि केवल विवेक–ही–विवेक से देखें तो आपको कोई रस नहीं मिलेगा।

मैं एक विद्यालय में गया तो वहाँ के प्रबन्धक महोदय ने कहा कि बालिकाओं की नृत्य–नाटिका की एक वीडियो बनवाई है, आप जरा उसे देख लें। सचमुच उसमें बहुत सुन्दर अंकन था। मीरा के पद–गायन को मैं अत्यन्त तन्मयता से देख–सुन रहा था कि एकाएक वे सज्जन मुझे बताने लगे कि यह लड़की जो मीरा बनी है, मेरे चपरासी की लड़की है। मैंने तो सिर पकड़ लिया, क्या यही समय था यह बताने का ? उनकी उत्सुकता यह बताने की थी कि उन्होंने चपरासी की लड़की को भी इस योग्य बना दिया है। वे अपनी इस विशेषता का परिचय देने को आतुर थे। पर उस समय मुझे वह महान कष्टकारक लगी। इसका तात्पर्य है कि नाटक देखने में प्रधानता भावना की हो तो उसे तदाकारता और रस की प्राप्ति होगी। उस समय विवेक गौण होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि भावना ही सब कुछ है, विवेक कुछ भी नहीं। वस्तुतः इस स्थिति में विवेक तो है, पर छिपा हुआ है। और छिपाने मे ही आनन्द की सार्थकता है। पर साथ–साथ विवेक का सर्वथा अभाव भी वांछनीय नहीं है। इसे यों कहा जा सकता है कि आप किसी ऐसे स्थान पर नाटक देख रहे हो, जहाँ आपका मित्र अभिनय–रत हो। किसी दृश्य में आप यदि देखें कि कोई अन्य व्यक्ति उसे पीट रहा हो और यदि आपका स्नेह इतना अधिक उमड़ आए कि उसकी रक्षा करने की इच्छा से मंच पर चढ़कर आप लगे उस व्यक्ति से छुड़ाने, तब तो चल रहे नाटक के स्थान पर एक नया नाटक प्रारम्भ हो जायगा। इसका सीधा–सा अर्थ है कि विवेक का सर्वथा अभाव भी नहीं रहना चाहिए। वह हो, पर इस ढंग से कि सक्रिय होकर रस को नष्ट करने के स्थान पर, भाव के रस का आस्वादन हो सके। और नाटक समाप्त होने पर विवेक में वापस आ जाना चाहिए। पर यह भी नहीं कि जिसका अभिनय पसन्द आया हो, उस पात्र की ही खोज में लग जायँ। सामन्जस्य की आवश्यकता हैं। यह समझ लीजिए कि नाटक देखते समय भाव की प्रधानता और नाटक के पूरा होने पर विवेक की प्रधानता।

भगवान राम के सामने कठिन समस्या है। एक ओर तो शतरूपा जी उन्हें पुत्र बनाना चाहती हैं और साथ ही विवेक की कामना करती हैं। इसीलिए भगवान श्री राम कौशल्या जी के सामने चतुर्भुज रूप में प्रगट हो गए। यहाँ से विवेक का प्रारम्भ हो गया। "गर्भ में आए हैं" यह जानकर अब तक वे भावना का आनन्द ले रहीं थी, पर इस रूप में देखकर आश्चर्य में पड़ गई। और कहने लगी :—

"ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।"

वेद कहते हैं कि आपके रोम–रोम में कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड हैं और ऐसे प्रभुः—

"मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै।।"

'आप मेरे उदर में आ गए' यह सुनकर बुद्धि स्थिर नहीं रह पा रही है। मैं इस विरोधाभास को समझ नहीं पा रहीं हूँ। उसके पश्चात्:——

"उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना"

– प्रभु ने ज्ञान का संचार किया कि आपने विवेक का वरदान माँगा था न।? ! और फिर प्रभु मुस्कुराए। गोस्वामी जी कहते हैं कि मुस्कुराकर क्या करना चाहते हैं – बोलेः——

"चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।"

भगवान चतुर्भुज रूप में कौशल्याजी की पूजा प्रारम्भ कर दें, यह तो अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वे पुत्र बननेवाले हैं। और आगे के चरित्र का निर्वाह तो तब होगा जब कौशल्या अम्बा विवेक को दूर कर दें। विवेक तो भगवान ने दे दिया पर क्रम जरा उलट दिया। याचना में तो विवेक पांचवे स्थान पर था ——

सोइ सुख[१] सोइ गति[२] सोइ भगति[३] सोइ निज चरन सनेहु[४]।
सोइ विवेक[५]" - - - - - - - - - - - - - -

पर देने में भगवान ने उसे प्रथम स्थान पर रख दिया। और कहा

कि आपने शतरूपा के रूप में यह वरदान माँगा था अतः आपकी इच्छा के अनरूप मैंने यह रूप–ग्रहण किया।

विराट–विश्वपुरुष श्री भगवान, माँ के उदर में कैसे आए?' यदि इस प्रश्न पर विचार करें और उसे सांकेतिक रूप से व्यवहार की भाषा में व्यक्त करें, तो कह सकते हैं कि जैसे एक विशाल आम के वृक्ष को हम देखें तो आश्चर्य होगा कि कितना बड़ा पेड़ है ! और आपको आश्चर्यचकित देखकर कोई व्यक्ति आम की एक गुठली लाकर कहे कि हाँ ! आम का वृक्ष विशाल तो है, पर इस गुठली मे समाया हुआ है। आपको फिर आश्चर्य होगा। गुठली नन्ही–सी और वृक्ष कितना विशाल! पर सत्य यही है। आप उस नन्हीं–सी गुठली को जमीन में डाल दीजिए। और फिर आप देखेंगे कि वह धीरे–धीरे अंकुरित होकर एक विशाल वृक्ष बन जाएगा। और उस विशाल वृक्ष की डालियों में अनगिनत फल होंगे। यही मानों सृष्टि का रहस्य है। रामायण में भी इस प्रकार का एक संकेत आया।

भगवान श्री राम के राज्याभिषेक के बाद वेदों ने भगवान की स्तुति की। उसमें उन्होंने जो शब्द कहे वे बड़े सार्थक हैं। वहाँ पर कहा गया कि संसार एक वृक्ष है। और उसका स्वरूप बताते हुए कहा गया कि प्रभु ! आप ही ये संसार वृक्ष हैं। वैसे तो साधारणतया यही कहा जाता है कि एक ओर भगवान हैं तथा दूसरी ओर संसार। इन्हें दो अलग–अलग रूपों में देखा जाता है। पर विचित्र–सा तब लगता है कि जब वेद भगवान की स्तुति करते हुए कहते है– इस संसार का मूल अव्यक्त है– 'अव्यक्तमूल'। संसार में आम या अन्य वृक्ष के संदर्भ में भी यह बात आप देखते हैं कि वृक्ष के पास जाकर खड़े होने से सब दिखाई देगा, पर उसका मूल दृष्टिगोचर नहीं होगा। क्योंकि उसका मूल भी अव्यक्त है, छिपा हुआ है। इसी प्रकार से संसार दिखाई दे रहा है पर ईश्वर तो दिखाई नहीं दे रहा है। अब कोई कहे कि जो नहीं दिखाई दे रहा है, उस ईश्वर की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। पर यह कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः हम ऊपर की ओर ही देखते है क्योंकि फल तो ऊपर ही

होता है। मूल की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, और मूल सहज रूप में दिखाई नहीं देता। इसलिए वेद कहते हैं कि व्यक्त संसार रूपी वृक्ष के मूल में आप ही अव्यक्त रूप से विद्यमान है।

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।।
फल जुगुल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।
७/१२/छं-५

हे प्रभु ! यह जो भी व्यक्त अव्यक्त दिखाई दे रहा है, सब आप ही हैं। अव्यक्तरूप में आप मूल हैं और व्यक्त रूप में सचराचर जगत में प्रत्येक वस्तु के रूप में आप ही हैं। हे संसार वृक्ष के रूप में प्रभु ! मैं आपको नमन करता हूँ। इसका अभिप्राय है कि विवेक का पक्ष ही यही है कि हम मूल का ज्ञान प्राप्त करें। इसीलिए भगवान के लक्षण गिनाते हुए कहा गया कि आप "महतो महीयान" – हैं और साथ–साथ यह भी कहा गया कि "अणोरणीयान" भी हैं। लघु से लघु भी वही है तथा विराट से विराट भी वही है। जो अव्यक्त है, वह भी वही है और जो नहीं दिखाई दे रहा है, वह भी वही है। यही ज्ञान का तत्व है।

आगे चलकर गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान अयोध्या के राजा हो गए। सिंहासनारूढ़ हो गए। लिखते–लिखते तुलसीदास को संकोच लगा कि यह क्या लिख यहा हूँ ? जिस ईश्वर के रोम–रोम में करोड़–करोड़ ब्रह्माण्ड हों, उसके लिए मैं कह रहा हूँ कि वह अयोध्या का राजा हो गया।

सिंघासन पर त्रिभुअन साई।
देखि सुरन्ह दुदंभी बजाई।। ७/११/८

जो त्रिभुवन के स्वामी भगवान श्री राम हैं, वे जब सिंहासन पर बैठ गए, तो देवताओं ने बाजे बजाए। गोस्वामीजी को लगा कि न, न वर्णन में अभी कमी है। अतः फिर लिखा ––

''भुअन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।। ७/२१/२

किसी 'अरबपति' से आप कहें कि आप 'लखपति' हैं तो ऐसा कहकर आप उसकी प्रशंसा कर रहे हैं या उसे छोटा बना रहे हैं ? व्यंग्य में कहा जाता है कि एक कोई बड़े पदाधिकारी गाँव में आए। गाँव का एक व्यक्ति उनसे प्रसन्न हो गया तो कहने लगा –''हुजूर ! मैं चाहता हूँ कि आप उन्नति करके थानेदार हो जायँ।'' अब उस बेचारे को एक थानेदार का ही पद ज्ञात हैं, वही उसे महत्वपूर्ण दिखाई देता है।

गोस्वामीजी से कहा गया कि जब आप ऐसा मानते हैं तो फिर आप उन्हें 'अयोध्यापति राम' क्यों कहते हैं, आप ब्रह्माण्डपति क्यों नहीं कहते ? तुलसीदासजी ने कहा कि सत्य तो यह हे कि:—

भुअन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।।
सो महिमा समुझत प्रभु केरी।
यह बरनत हीनता घनेरी।
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।
फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी।।
सोउ जाने का फल यह लीला। ७/२१/२-५

भगवान श्री राम अयोध्यापति हो गए, यही मानों फल है। अभिप्राय है कि मूल से प्रारम्भ हुआ, जो अव्यक्त है। व्यक्त वृक्ष भी बड़ा विशाल हैं। पर व्यक्ति को सबसे प्रिय वह फल है, जो डाली में लगा हुआ है। क्योंकि उसी में तो सारा रस समाया हुआ है। गोस्वामीजी मानों बताना यह चाहते हैं कि विवेक का आनन्द तो मूल जानने में हैं, पर रस पाने के लिए तो उसे छोटा बनाना ही पड़ेगा।

एक बार बम्बई में प्रसंग के चुनाव की बात आई, तो सौजन्यमयी सरलाजी ने जो वहाँ पंक्ति चुनी उसमें भी इसी तरह का भाव छिपा हुआ है और वह पंक्ति है:—

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी।। १/१११/४

पढ़कर बड़ी अजीब–सी बात लगती है। दशरथ के आँगन में विहार करने वाले प्रभु आप मुझ पर द्रवित हों। इसके स्थान पर यदि यह कहा जाता कि हे घट–घट व्यापी। आप मुझ पर द्रवित हों, तब तो बात कुछ ठीक–सी लगती। पर इसमें भाव यह है कि भले ही आप सर्वव्यापी हों पर आनन्द तो तब आता है कि जब आप दशरथ के आँगन में विहार करते हैं। दशरथ दोनों अर्थों में कहा जा सकता है। राजा दशरथ के रूप में भी तथा हम सब भी तो दस इन्द्रियोंवाले ही हैं। हाँ ! यह पता नहीं है कि हम दशरथ हैं या दसमुख। पर भगवान एक ओर यदि दशरथ के आँगन में आते हैं तो दूसरी ओर वे लंका के रणांगण में भी जाते हैं। दोनों ही प्रांगण में वे खेल और लीला करते हैं।

लंका के रणांगण में जब वे खेल करते हैं तो उनके खेल को देखकर भगवान शंकर कह उठते हैं कि उसका स्मरण करके मुझे संकोच होता है।

जब रघुनाथ कीन्हि रन क्रीड़ा।
समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा ।। ७/५७/३

गोस्वामीजी कहते हैं कि सर्वव्यापी होने पर भी जब तक आप हमारे आँगन में न आ जायँ, हमारे जीवन में न आ जायँ, हम आपके आनन्द का अनुभव न करें, तब तक हमारे लिए उसकी सार्थकता नहीं है। अतः आप तो हमारे जीवन में ''दशरथ अजिर बिहारी'' रूप में ही आएँ। और वे, अखिल ब्राह्माण्ड में व्याप्त, प्रभु जब दशरथ जी के आँगन में आते हैं तो सिमटे हुए दिखाई देते हैं। और उससे भी अधिक सिमटकर जब कौशल्या जी की गोद में आ जाते हैं, तब दिव्य रस की अनुभूति होती है और उस दृश्य को देखकर गोस्वामी जी कह उठते हैं कि

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।। १/१९८

भगवान ने सोचा कि मैंने मूल तत्व का, विवेक का परिचय तो माँ को दे दिया, पर यदि हर समय यह विवेक बना रहा कि 'यह ईश्वर है', तब न तो इन्हें रस आएगा और न ही मुझे। वस्तुतः अभिनेता भी कुछ समय के लिए स्वयं को भूले, यह आवश्यक होता है। भक्त ही नहीं भगवान भी कुछ समय के लिए अपने आपको भूल जाते हैं। रामायण में कई ऐसे प्रसंग आते हैं।

वर्णन आता है कि जिस समय हनुमानजी प्रभु का सन्देश लेकर सीताजी के पास गए, उस समय उन्होंने प्रभु के बाण की महिमा सुनाते हए कहा कि बस अब आप चिन्ता न करें। आपका यह कष्ट प्रभु के यहाँ आने तक का ही है, क्योंकि :—

राम बान रबि उएँ जानकी।
तम बरूथ कहँ जातुधान· की।। ५/१५/२

माँ ! प्रभु के बाण में बड़ी शक्ति है। श्री सीताजी ने जब सुना तो सुनकर उलाहना देते हुए कहा–"हनुमान ! मैं तो प्रभु को कोमल चितवाला समझती थी, परः—

कपि केहि हेतु धरी निठुराई।

अब स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि वे निष्ठुर हो गए हैं।" किन्तु हनुमानजी ने उत्तर देते हुए कहा–"माँ ! क्षमा करें, मैं यह कहना चाहता हूँ कि जितना प्रेम आप प्रभु से करती हैं, प्रभु आपसे उसकी अपेक्षा दुगना प्रेम करते हैं।" श्री हनुमानजी का वाक्य यही है कि :—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम ते प्रेमु राम कें दूना।। ५/१३/१०

हनुमानजी ने यह इतनी बढ़िया बात कही कि माँ गद्‌गद् हो गई। संसार का नियम है कि यदि किसी के धन, बल और बुद्धि को आपसे

दूना बता दिया जाय, तो अच्छा नहीं लगता, पर यदि कहा जाय कि आप जितना प्रेम करते हैं, वे आपसे उससे ज्यादा करते हैं, तो यह प्रत्येक को अच्छा लगता है। प्रश्न यह है कि जब श्री किशोरीजी ने उलाहना दिया तो उसके पीछे भी तो कोई न कोई कारण होगा। वस्तुतः श्री सीताजी का तात्पर्य था कि हनुमान ! तुम कहते हो वे दूना प्रेम करते हैं और यह भी कहते हो कि उनके बाण में बड़ी शक्ति भी है, किन्तु मुझे आश्चर्य यह है कि जब बाण में इतनी शक्ति है, तो फिर वे मुझे छुड़ाते क्यों नहीं ? हनुमान जी ने कहा–"माँ ! आपको तो अपना भान है, पर वहाँ समस्या यह है कि आपके वियोग की व्यथा में वे इतने डूब गए हैं कि उन्हें अपने–आपकी भी विस्मृति हो गई है। वे अपने बाण की शक्ति भी भूल गए हैं।

"तव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की"

अपनी सर्वशक्तिमत्ता तक भूल गए हैं। हर क्षण वे तो आपकी ही याद करते हैं।" बस, अभिनय करते–करते अपनी भी विस्मृति, यही उसमें तदाकारता की वृत्ति है और यही अभिनय की पराकाष्ठा है।

इसीलिए जब हनुमानजी लौटने लगते है, तो श्री सीता जी ने यही कहा कि हनुमान ! तुम कथावाचक तो बहुत अच्छे हो। ऐसी रसमयी कथा सुनाई कि मेरा दुःख दूर कर दिया। गोस्वामीजी ने यही लिखा भी कि कथा सुनकर श्री सीता जी का दुःख दूर हो गया।

रामचन्द्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा।। ५/१२/५

इसलिए श्री किशोरी जी ने कहा कि मुझे तो बड़ा अच्छा लगा। अतः अपने इस कथावाचकत्व का प्रयोग वापस लौटकर वहाँ पर भी करना। पहले तो मैंने सोंचा था कि तुमसे कहूँगी कि मेरी याद प्रभु को दिलाना। पर जब तुमने कह दिया कि मेरी याद को छोड़कर उन्हें कुछ भी याद नहीं है, तो अब मैं यही कहूँगी कि उन्हें मेरी याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु :—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु।। ५/२६/५

उनको याद दिला देना कि उनके बाण में कितनी शक्ति है। और जब श्री हनुमानजी वापस जाकर श्री सीताजी का सन्देश सुनाते हैं, तो क्या श्री राम उस समय ईश्वर रहते हैं ? लिखा हुआ है कि :—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना।। ५/३१/१

सुनकर प्रभु रोने लगे। और कहा–"हनुमान ! तुम मुझे ईश्वर कह रहे हो, कह रहे हो कि मेरी भक्ति का बड़ा प्रताप है, मेरे नाम में बड़ी शक्ति है, तो तुम्हीं बताओ कि

बचन काँय मन मम गति जाही।
सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही।। ५/३१/२

किन्तु तुम कह रहे हो कि लंका में सीता मेरे नाम का स्मरण कर रही हैं और विपत्ति में भी है। इनमें से कोई न कोई बात गलत होगी। या तो उन्हें मेरे नाम की स्मृति नहीं है और यदि वे नाम–स्मरण कर रही हैं, तो फिर यही मानना चाहिए कि (यदि नाम में शक्ति होती) विपत्ति नहीं होनी चाहिए थी।" उस समय हनुमानजी समझाने की भूमिका में हैं तथा भगवान राम विरह में निमग्न होकर सब कुछ भूल गए हैं।

हनुमानजी के समक्ष जैसा यह प्रभु का भूलनेवाला रूप है, श्री लक्षमण के साथी प्रभु कुछ इसी तरह दिखाई देते हैं, जो सीता–हरण के बाद अपने आपको, अपने प्रताप, तेज को भूल गए हैं।

वनयात्रा–प्रसंग में आप एक क्रम पाते हैं कि चलते समयः—

आगे राम लखन पुनि पाछे।

भगवान राम आगे चलते हैं तथा श्री सीता जी एवं श्री लक्ष्मणजी पीछे चलते हैं। पर आगे जाकर किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ में गोस्वामी जी जब वन्दना करते हैं तो उस वन्दना के श्लोक में वे कहते हैः—

''कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ।
शोभाढयौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ।।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ।
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः।।

'श्री सीताजी खोज में भगवान राम और श्री लक्ष्मण चले। ऐसे खोज में चलनेवाले इन दोनों की मैं वन्दना करता हूँ।'' पर इसमें जरा क्रम पर ध्यान दीजिए।

भगवान राम का रंग है नील कमल (इन्दीवर) के समान और लक्ष्मण जी गौरवर्ण के हैं, कुन्द के समान। गोस्वामी जी ने यहाँ क्रम बदल दिया। 'कुन्देन्दीवर' – में पहले कुन्द के रूप में फिर इन्दीवर के रूप में। यदि 'आगे राम लखन पुनि पाछे' का सिद्धान्त है, तो पहले 'इन्दीवर' कहना चाहिए, बाद में 'कुन्द' कहना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि जब तक सीताजी साथ में थीं, श्री राम आगे थे और लक्ष्मणजी पीछे, पर जब सीताजी खो गईं, तो श्री लक्ष्मणजी आगे हो गए और श्री राम पीछे–पीछे चलने लगे। क्योंकि वे सीताजी के हरण के दुःख से इतने व्याकुल हो गए हैं कि लता–वृक्षों से पता पूछ रहे हैं।

आज तक भगवान राम, लक्ष्मणजी को समझाते रहे हैं। अरण्यकाण्ड में लक्ष्मणजी ने पूछा :––

कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।। ३/१३/८

और भगवान राम उन्हें समझाते हुए कहते हैः––

थोरे महँ सब कहौं बुझाई।

पर अब सीताजी नहीं हैं तो क्रम बदल गया। यहाँ पर तो :––

लछिमन समुझाए बहु भाँती।

अब लक्ष्मणजी ही भगवान श्री राम को समझाते हैं कि आप

धैर्य धारण कीजिए। अत्यन्त व्याकुल मत होइए। श्री हनुमन्नाटक में वर्णन आता है कि एक बार भगवान राम ने श्री लक्ष्मणजी से पूछ दिया कि 'मैं कौन हूँ'। वे अपने को भी भूल जाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे भक्त भूल जाता हैः——

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।। ३/६/११

मैं कौन हूँ, ? कहाँ जा रहा हूँ, पर भक्त ही नहीं, भगवान भी भूल जाते हैं।

भगवान का अभिप्राय है कि अब मैं मार्गदर्शन नहीं करूँगा,तुम मेरा मार्गदर्शन करोगे। क्योंकि लक्ष्मण ! 'मैं माया–मृग (मारीच) के पीछे भागा पर तुम नहीं भागे, इसका अर्थ है कि तुम्हारा विवेक प्रबुद्ध है। इस प्रकार से यहाँ क्रम बदला हुआ दिखाई दे रहा है।श्री सीताजी ने हनुमान जी से भी यही कहा कि अब समझाने की भूमिका तुम्हारी है, इसलिएः——

बान प्रताप प्रभुहिं समुझायहु।

और हनुमानजी यह कार्य करते हैं। प्रभु कहते हैं कि मेरे नाम की महिमा व्यर्थ है, क्योंकि सीताजी की विपत्ति उससे दूर नहीं हो रही है। भगवान राम के तो दुःख की सीमा नहीं। किन्तु हनुमानजी कहते हैं–"प्रभु ! वहाँ तो रावण लंका का समस्त वैभव उनके चरणों में अर्पित करने को प्रस्तुत है, इसलिए संसार की दृष्टि में जिसे विपत्ति कहते हैं, उनकी विपत्ति वैसी नहीं है। माँ की विपत्ति ——

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई।। ५/३१/३

श्री सीताजी आपका भजन तो कर रही हैं पर जो सेवा नहीं कर पा रही हैं, उसका दुःख उन्हें है।" और इस विपत्ति का उपाय बताते हुए वे प्रभु से कहते हैं ——

''बेगि चलिउ प्रभु आनिय भुज बल खल दल जीति।'' ५/३१

प्रभु ! अब आप विलम्ब मत कीजिए। चलकर दुष्टों से युद्ध करके उनका संहार करके, श्री सीताजी को लौटा ले आइये। भगवान राम ने जब सुना, तो गीतावली रामायण में वर्णन आता है कि उन्होंने संकेत से ही सुग्रीव से कहा कि सेना लेकर चलो।

भगवान ने माँ को विवेक का वरदान जो दिया था वह प्रगट होकर प्रत्यक्ष भी कर दिया। पर समस्या यह है कि ऐसी स्थिति में आगे की लीला तो ठीक से होगी नहीं, अतः विवेक का विस्मरण होना आवश्यक है। तब प्रभु ने सोचा कि इनमें बस पुत्र का प्रेम उत्पन्न हो जाय, तभी तो स्वयं ये रस ले सकेंगी और मुझे भी रस देंगी। और यदि विवेक बना रहेगा, तो मेरे रोने पर ये सोंचेंगी कि बालक तो ब्रह्म है, उसे भूख नहीं लग सकती, अतः मुझे दूध पिलाएँगी ही नहीं, इसलिए :––

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई।
जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।

फिर प्रभु ने पूछा – ''आपने सुख भी तो माँगा था। विवेक तो मिल गया, अब सुख का भी अनुभव कीजिए।'' और तब माँ का विवेक पीछे चला गया और वे मातृत्व के सुख की आकाँक्षा करने लगीं। उन्होंने भगवान श्री राम से कहा :––

''कीजै शिशु लीला अति प्रिय सीलां
यह सुख परम अनूपा।''

मैं चाहती हूँ कि आप बालकों जैसी लीला करें। सीधे नहीं कहा कि बच्चे तो जन्म लेते ही रोते हैं, अतः आप भी रोइए। किन्तु चतुराई से माँ ने बात कह दी। और भई ! सही भी है। क्योंकि आप किसी से कहें रोइए तो वह बुरा मान जाएगा, पर यदि कहें कि रोने का अभिनय करना है, नाटक में रोना है, अतः ऐसे रोइए कि सबको आनन्द आ जाय तो वह व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक रोना स्वीकार करेगा। इसलिए माँ के

कहने में संकेत यही था कि बालकोंवाली लीला प्रारम्भ करें। उसके पश्चात् ––

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना
होइ बालक सुर भूपा।

भगवान नन्हा–सा बालक का रूप धारणकर रुदन प्रारम्भ कर देते हैं।

ईश्वर का मुस्कुराना विवेक है तथा रोना आनन्द प्रदाता। रोदन में भावना का आनन्द है। वर्णन भी यही आता है:––

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।
संभ्रम चलि आई सब रानी।।
हरषित जहँ तहँ धाई दासी।
आनंद मगन सकल पुर वासी।। १/१६२/२

बालक का रोना सुनकर चारो ओर आनंद की बाढ़ आ गई। ऐसे बढ़िया नाते और चरित्र का निर्वाह प्रभु करते हैं।

भगवान श्री राम को एक दिन याद आ गई कि माँ से तो मैंने कहा था कि आपका विवेक मिटेगा नहीं इसलिए फिर एक खेल करके याद दिला दी। एक ही समय में माँ ने देखा कि पालने पर श्री राम हैं और पूजागृह में भोग भी लगा रहे हैं। एक ओर श्री राम जागते हुए दिखाई दे रहे हैं, तो दूसरी ओर सोते हुए भी श्री राम ही हैं। उसके पश्चात् पुनः विराट रूप प्रगट कर दिया। माँ फिर से विवेक की स्थिति में आ गई। प्रभु ने कहा कि आपने इसे देख लिया, पर भूल कर भी किसी से न कहियेगा कि यह बालक साक्षात् ईश्वर है––

यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई।

और फिर से :––

भए बहुरि सिसु रूप खरारी।।

लीला प्रारम्भ कर दी —

चितइ मातु लागी अति भूखा।

माँ की ओर देखते हैं देखते हैं—माँ कितनी देर हो गई, तुमने मुझे दूध नहीं पिलाया। माँ तुरन्त ज्ञान भूल कर गोद में ले लेतीं हैं और वात्सल्यपूर्वक पयपान कराती है।

गोद राखि कराव पय पाना।

और प्रभु भी दिव्यरस मे निमग्न हो जाते हैं। सीधा–सा तात्पर्य है कि प्रभु सभी नाते पूरी तरह से स्वीकार कर लेते हैं। और जो सम्बन्ध स्वीकार करते हैं उसमें पूरी तरह तन्मय और तदाकार हो जाते हैं। लक्ष्मणजी के सम्बन्धों में यही विशेषता है कि प्रभु उनके बड़े भाई ही नहीं अपितु उनके स्वामी हैं, सखा हैं, माता–पिता गुरु और यह कह लीजिए कि सर्वस्व हैं। प्रभु जैसा स्वामी नहीं मिलेगा, सखा मान लेने पर उनके जैसा मित्र नहीं मिलेगा। ऐसी माता, ऐसा पिता और ऐसा गुरु संसार में कहाँ मिलेगा ? इसलिए वाल्मीकि जी कहते हैः——

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।२/१३०

।। बोलिए सियावर राम चन्द्र की जय।।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

(४)

कल नातों के दो रूपों की चर्चा की गई थी। एक प्रकार के संबंध वे हैं, जो शरीर से जुड़े हैं तथा दूसरे नाते वे जो भाव के द्वारा अन्तःकरण में उदित होते हैं। स्वाभाविक है कि शरीर के नातों की बाध्यता है। व्यक्ति पुत्र की कामना करता है, यह स्वाभाविक ही हैं, पर यह कोई आवश्यक नहीं कि पुत्र उसके मनोनुकूल ही आचरण करे। पुत्र का व्यवहार पिता के सर्वथा विपरीत भी हो सकता हैं। यह कठिनाई शरीर के सभी नातों के साथ जुड़ी हुई है। इन नातों में यदि सुख मिलने की आशा है, तो दुःख मिलने की संभावना भी उससे कम नहीं, अपितु कुछ अधिक ही हो जाती है। शरीर के नाते से महाराज मनु भगवान को पुत्र के रूप में पाना चाहते हैं, इसकी चर्चा आपके समक्ष चल रही थी। महारानी शतरूपा भी इस नाते को स्वीकार करती हैं। इस प्रसंग में वर्णन आता है कि भगवान श्रीराम ने महाराज मनु को (मनु के रूप में जब वे सामने थे, तो) 'पिता' कहकर संबोधित नहीं किया, पर शतरूपाजी को उसी समय 'माँ' कहकर पुकारते हैः—

मातु बिबेक अलौकिक तोरे

इसका अभिप्राय है कि महाराज मनु चाहते हैं कि ईश्वर की पुत्र के रूप में प्राप्ति शरीर के माध्यम से ही हो। तो भई ! शरीर के माध्यम से प्राप्ति का एक क्रम है। इसलिए वे महाराज मनु से कह देते हैं कि मैं पुत्र बनूँगा पर इसके लिए बीच में अभी एक लंबा अंतराल है। आप यहाँ से जाने के बाद स्वर्ग में निवास कीजिए। अपने पुण्यों का फल भोगिए। इसके पश्चात् जब आप अयोध्या में जन्म लेंगे, तो मैं आपका पुत्र बनूँगा।

यद्यपि भगवान तो दोनों ही नाते स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं, पर शरीर के नाते में विलंब अवश्यंभावी है। और भाव के नाते में विलक्षणता यह है कि वह नाता तत्काल जोड़ा जा सकता है, और मन से जोड़ा जाता है। भाव का नाता कोई बलात् या बाध्यतामूलक नहीं है, अपितु उस नाते को व्यक्ति स्वयं स्वीकार करता है।

इस दृष्टि से हनुमानजी और भगवान श्रीराम का नाता शरीर का नहीं, अपितु भावना का ही नाता है। क्योंकि शरीर की दृष्टि से तो वे मनुष्य नहीं, वानर–जाति के हैं। यद्यपि भक्तगण इसे अच्छी तरह से जानते हैं कि श्री हनुमानजी भगवान शंकर के ही अवतार हैं, किन्तु शरीर की दृष्टि से तो वे पशु के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

भगवान शंकर यदि चाहते, तो अपने अवतार के लिए मनुष्यरूप में अथवा अन्य किसी श्रेष्ठ वर्ण में जन्म लेने का चुनाव कर सकते थे। वे चाहते, तो अयोध्या में ही भगवान राम के वंश में भी जन्म ले सकते थे। पर बड़ा विलक्षण शरीर उन्होंने चुना, जो मनुष्य भी नहीं, बानर (पशु) के रूप में दिखाई देता है। इसीलिए जब विभीषणजी तथा हनुमानजी का मिलन हुआ, उस समय हनुमानजी ने प्रभु की उदारता और दया की प्रशंसा की, तो विभीषणजी ने पूछा कि यह बताइए:—

तात कबहुँ मोहिं जानि अनाथा।
करिहहिं कृपा भानकुल नाथा।। ५/६/२

क्या भगवान मुझ पर कभी कृपा करेंगे ? सुनकर हनुमानजी ने कहा–"विभीषणजी ! मुझे इस प्रश्न को सुनकर बड़ी निराशा हो रही है। क्योंकि मुझे देखने के बाद यह प्रश्न आपके मन में आना ही नहीं चाहिए था। आपका तो जन्म पुलस्त्य ऋषि के कुल में हुआ है, विश्रवा मुनि के आप पुत्र हैं तथा स्वयं आप वेदज्ञ और विद्वान हैं। दूसरी ओर मुझे आप देख ही रहे हैं कि आपके सामने एक वानर बैठा हुआ है।" और फिर वे विभीषणजी से पूछते हैः—

''कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना।।'' ५/६/७

वानरों के बारे में ऐसा माना जाता है कि ये तीनों बुराइयों के साक्षात् रूप ही हैं। वानर महान कामी, बड़ा ही क्रोधी और अत्यन्त लोभी होता है। कहा जाता है कि :––

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरू लोभ।

और ये सब इनमें होते हैं। बंदर अत्यन्त चंचल होता है। योगशास्त्र में कहा जाता है कि मन की चंचलता को दूर करना चाहिए। पर मन की चंचलता दूर करना अत्यन्त कठिन है। अर्जुन को मन को वश में करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। इसीलिए वे भगवान कृष्ण से अनुरोध करते हैं कि :––

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं।। (गीता /६/३४)

वायु को रोकना सरल हो जाय पर मन की चंचलता को रोकना अत्यन्त कठिन है।

भगवान शंकर ने बंदर का शरीर धारण किया, इसका उद्‌देश्य लोगों को यह विश्वास दिलाना है कि भगवान से संबंध जोड़ने के लिए किसी विशिष्ट वर्ण या जाति में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि हम ब्राह्मण, क्षत्रिय या मनुष्य बनेंगे, तभी भगवान से सम्बन्ध होगा। साथ ही वे यह भी आश्वासन देते हैं कि भगवान को पाने के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि हमारा मन एकाग्र या निर्विकार हो। जो शब्द उन्होंने कहे, उनमें यही संकेत है। वे कहते हैः––

''कहहु कवन मैं परम कुलीना।''

आप तो कुलीन ही नहीं, परम कुलीन हैं। और यहाँ तो :––

''कपि चंचल सबही बिधि हीना।''

कोई ऐसा विशेष गुण नहीं है। साथ–साथ अपनी हीनता के लिए वे कहते हैं कि मैं बता दूँ कि हमसे लोग अत्यन्त डरते हैं। क्योंकि प्रातःकाल उठने के समय, अगर 'बंदर' शब्द कान में पड़ जाय, तो लोग ऐसा मानते हैं कि आज का दिन अच्छा नहीं व्यतीत होगा। उन्होंने कहा:–

''प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।।'' ५/६/८

प्रातःकाल जो मेरा नाम ले ले, उसे उस दिन भोजन नहीं मिलता। कई लोग मुझसे पूछते हैं कि हनुमानजी का नाम लेने से भोजन मिलता बंद तो नहीं हो जाता ? कई लोगों ने तो उपाय भी निकाल लिया है कि सुबह के समय दो घंटे तक हनुमानजी का नाम नहीं लेना चाहिए। कारण पूछने पर वे यह नहीं कहते कि नाम लेने से भोजन नहीं मिलेगा, वे कहते हैं कि सुबह से दो घंटे तक हनुमानजी प्रभु की सेवा में रहते हैं। और यदि उस समय उनका नाम लेकर पुकारेंगे तो उनको बाधा पहुँचेगी। किन्तु भई ! प्रश्न यह है कि क्या हनुमानजी बचे हुए बाइस घंटों में प्रभु की सेवा को छोड़कर अन्य कोई कार्य करते हैं ? आपको उनकी बड़ी चिन्ता है कि आप सुबह दो घंटे हनुमानजी को रामकार्य करने के लिए छुट्टी दे देते हैं। इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि श्री हनुमानजी दो घंटे तो प्रभु का काम करें और बाइस घंटे हमारा।

हनुमानजी इसके द्वारा यह बताना चाहते हैं कि देखो बंदर में रूप भी नहीं है, नाम भी पवित्र नहीं है, उसका निवास स्थान भी पेड़ है:––

साखा ते साखा पर जाई।

और साथ–ही–साथ बन्दर कुरूप और महान चंचल भी है, यह बंदर की स्थिति है। किन्तु इतना होते हुए भी :––

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर।। ५/७

'ऐसे अधम पर भी प्रभु ने इतनी कृपा की है !' यह वाक्य कहते–कहते प्रभु के स्वभाव का स्मरण करके उनका गला रुँध गया, आँखों में आँसू आ गए और वे बोले–"विभीषणजी ! संसार में अगर कोई दुःखी है, तो उसका एकमात्र कारण है कि :—

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी।
फिरहिं तै काहे न होहिं दुखारी।। ५/७/१

ऐसे जो परम कारुणीक, अत्यन्त उदार हमारे स्वामी हैं, उन्हें छोड़कर जो यहाँ–वहाँ भटक रहे हैं, अगर वे दुःखी हैं, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।" यहाँ पर श्री हनुमानजी ने 'स्वामी' शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि यदि आप चाहें तो 'स्वामी का नाता' प्रभु से जोड़ सकते हैं, इसमें कोई जाति–पाँति, गुण, धर्म आदि की बाधा नहीं है। और यदि हम विचार करके देखें, तो जो बात हनुमान जी ने विभीषण के सामने कही, वही बात प्रभु ने भी शबरीजी से कही।

भगवान श्री राम जब शबरी के आश्रम में जाते हैं, उससे ठीक पहले कबंध का प्रसंग आता है। भगवान ने कबंध का वध किया तथा उसे ब्राह्मण–भक्ति का उपदेश देकर कहाः—

सुन गंधर्व कहऊँ मैं तोही।
मोहि न सुहाइ ब्रहमकुल द्रोही।।
सापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।। ३/३२/८

ये पंक्तियाँ लोगों के मन में पहले भी खटकती रही होंगी ! और आज के लोग तो बड़े संवेदनशील हैं। उन्हें लगता है कि तुलसीदास

जी स्वयं ब्राह्मण थे, अतः ब्राह्मण–भक्ति को समाज में पैठाने के लिए उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी हैं। इस पर बहुत अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। पर आइए, संक्षेप में गोस्वामीजी की शैली पर एक दृष्टि डाल ली जाए।

यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि भगवान राम कबंध को ब्राह्मण की इतनी महिमा बताते हैं, उन्हें इतना महत्व देते हैं पर इसके तुरन्त बाद वे अगला कार्य क्या करते हैं, जरा वह भी देखें। कबंध के प्रसंग में लगा कि शूद्र का महत्त्व बिल्कुल नहीं है, बल्कि जो भी महत्त्व है, वह ब्राह्मण का है। पर तुलसीदासजी का सामन्जस्य देखिए। वे लिखते हैं कि भगवान राम नेः––

कहि निज धरम ताहि समुझावा।

उसे उपदेश दिया और अगला कार्य यह किया कि :––

ताहि देई गति राम उदारा।
सबरी कें आश्रम पगु धारा।। ३/३३/५

कबंध को उपदेश देने के बाद भगवान राम सीधे शबरी के आश्रम में गए। पढ़कर लगता है कि भगवान राम का यह आचरण तो अपने ही उपदेश के विरुद्ध है, क्योंकि ब्राह्मण–भक्ति का उपदेश देने के बाद यदि किसी ब्राह्मण के आश्रम में जाते, उसकी पूजा करते, तब तो लगता कि हाँ ! जो उपदेश दिया, उसे क्रियान्वित कर रहे हैं। किन्तु शबरी तो उच्चवर्ण की नहीं है। वे तो वनवासिनी स्त्री हैं तथा निम्नकुल में जन्मी हैं। शरीर की दृष्टि से भी वे कोई उच्च स्थिति में नहीं हैं। और भगवान राम सीधे उनके आश्रम में जाते हैं !

भगवान राम वन – यात्रा में महर्षि भरद्वाज, महर्षि वाल्मीकी तथा अत्रि आदि बड़े–बड़े ऋषि मुनियों के आश्रम में गए, पर अयोध्या वापस आने पर जब भी उनसे वनयात्रा के संस्मरण सुनाने के लिए कहा जाता था कि 'आप चौदह वर्ष वन में रहे, वहाँ किन–किन लोगों से मिले, उनसे क्या क्या बातें हुई, जरा बताइए' ! बहुधा होता यह है कि लोग अपनी देश, विदेश–यात्रा से लौटने के बाद, वे ही बाते बताते हैं जो उनके

गौरव को बढ़ाने वाली होती है। बड़े–बड़े व्यक्तियों से भेंट होने का वर्णन करते हैं। भगवान श्री राम भी यदि चाहते तो कह सकते थे कि भरद्वाजजी के आश्रम में जब मैं गया तो उन्होंने मेरी बड़ी स्तुति की। बाल्मीकिजी ने मेरी बड़ी पूजा की। और महर्षि अत्रि तो मुझे जाने देने के लिए ही प्रस्तुत नहीं थे। पर भगवान राम ने अपना संस्मरण सुनाते हुए एक बार भी किसी ऋषि मुनि का नाम नहीं लिया। गोस्वामी जी विनय पत्रिका में कहते हैं :—

मिलि मुनिबृंद फिरत दंडक बन,
सो चरचौ न चलाई।

कभी किसी मित्र से चर्चा भी नहीं की कि किसी मुनि से मेरी भेंट हुई। अपितु जब सुनाते थे तो:—

बारहिं बार गीध सबरीकी,
बरनत प्रीति सुहाई।। (विनय पत्रिका १६५/३)

प्रभु को या तो याद आती है, गीधराज जटायु की, या फिर शबरी की। मित्र सोचते हैं, दो की चर्चा सुनी, अब आगे अन्य लोगों की कुछ बातें सुनने को मिलेंगी। यह सोचकर फिर पूछते हैं, तो भगवान राम फिर से उन्हीं दो की बात सुनाने लगते है। गोस्वामी जी लिखते हैं – ''बारहिं बार।'' मित्र समझ गए कि बस दो ही नाम याद रह गए। बाकी सब भूल गए। किन्तु जरा विचार कीजिए कि दो ही नाम क्यों याद रह गए ?

गीध कौन है, उसका भोजन क्या है ? शबरी तो भला, कन्द–मूल फल ग्रहण करती हैं, पर गीध तो माँस भक्षी है।

उसके लिए तो कहा गया कि:—

गीध अधम खग आमिष भोगी।

पक्षियों में भे जो अधम पक्षी है, वह है गीध। रामायण के दो विशेष पक्षी हैं। एक जटायुजी और दूसरे कागभुशुण्डिजी। कौआ और

गीध। भागवत के पक्षी शुकदेव जी तो बड़े सुंदर हैं। पर गीध और कौआ ये दोनों ही सबसे नीच पक्षी माने जाते हैं। लोमशजी ने भुशुण्डि शर्मा को शाप देते हुए यही कहा था :—

सपदि होहि पच्छी चंडाला।।

तू चाण्डाल पक्षी हो जा !

भुशुण्डि जी ब्राह्मण के रूप में महर्षि लोमश के पास गए थे। लोमशजी ने कहा कि मैंने तुम्हें ब्राह्मण समझकर, हंस मानकर कि ब्राह्मण बड़ा विवेकी होता है, ज्ञान का उपदेश दिया था। पर तुमने मेरी बातों को ध्यान से नहीं सुनां, अतः तू ब्राह्मण रहने का अधिकारी नहीं है, हंस रहने का अधिकरी नहीं है। इसलिए पक्षियों में भी चाण्डाल पक्षी कौआ हो जा।

श्री रमणलालजी बिन्नानी ने किसी संगीतज्ञ की चर्चा सुनाते हुए बताया कि संगीतज्ञ के क्या लक्षण हैं। वे स्वयं संगीत के अच्छे ज्ञाता और गायक भी हैं। उन्होंने जो परिभाषा सुनाई, वह मैने पहले नहीं सुनी थी। उन्होंने कहा कि जिसमें नृत्य, वाद्य और गीत तीनों की समग्रता है, वह संगीतज्ञ है। और वह परिभाषा सुनकर जब मैं यहाँ आया तो कवि जाजूजी ने मुझे 'गायक' का सम्बोधन दिया— 'ये तो रामकथा के गायक हैं'। सुनकर मैं चिन्ता में पड़ गया कि जो तीन लक्षण सुने थे, उनमें से तो कोई भी लक्षण मुझमें नहीं है। किन्तु बाद में मैंने यह सोचकर सन्तोष कर लिया कि जाजूजी का कहना इसलिए ठीक होगा, क्योंकि रामायण में उमा–शंभु संवाद के प्रसंग में एक गायक की बात कही गई है। भगवान शंकर जी कहते हैं कि पार्वती मैंने तुम्हे वह कथा सुनाई जिसका गायन कौवे ने किया था–

काग भुशुंडि गरुड़ प्रति गावा।

तो भई ! अगर कौआ भी रामायण में गा सकता है, तो इस अर्थ में उनकी बात ठीक है।

'कौआ भी गा सकता है', इतना ही नहीं, गोस्वामी जी ने एक विशेष शब्द रामायण में लिख दिया जिसे पढ़कर आश्चर्य भी होता है। उन्होंने कहाः——

''बोलेउ मधुर बचन तब कागा।''

'कौआ मधुर बचन बोला'। सुननेवाले को आश्चर्य हुआ,– ''महाराज ! यह आपका कोई नया कौआ है क्या ? इतना कर्कश बोलनेवाला मधुर कैसे बोल रहा है ?'' गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि भई! हमारे प्रभु की कथा इतनी मधुर है कि अगर कौआ भी बोले तो भी वह मधुर ही प्रतीत होगी। इतना दिव्य चरित्र है, हमारे प्रभु का !

प्रभु, काग और गीध को भी धन्यता प्रदान करते हैं। गीध अधम पक्षी है और कौआ चाण्डाल पक्षी है पर प्रभु की कृपा यह है किः–

गीध अधम खग आमिष भोगी।
गति दीन्हीं जो जाचत जोगी।। ३/३२/२

वस्तुतः कबंध को प्रभु ने जो उपदेश दिया था, उसके पीछे एक गाथा है, इतिहास है और उसी को सामने रखकर ही कबन्ध से ये बातें कही गयी थीं।

अयोध्या में महाराज मनु दशरथ बने, शतरूपाजी कौशल्या बनीं। और इन दोनों ने बड़ी कठिन साधना तथा तपस्या की, तब जाकर प्रभु ने उनसे माँ और पिता का नाता माना। दूसरी ओर वन में भी प्रभु ने माँ और पिता का नाता स्वीकार किया। गीधराज को पिता तथा शबरी जी को प्रभु ने माँ के रूप में स्वीकार किया। इसमें मानों संकेत यह है कि इस भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि उनकी माता बनने के लिए शतरूपा के समान साधना की आवश्यकता है या पिता बनने के लिए महाराज मनु के समान कठिन तपस्या करनी होगी। नहीं–नहीं, गीधराज को तो वह सौभाग्य मिला, जो महाराज श्री दशरथ को भी नहीं मिला। क्योंकि महाराज श्री दशरथ की क्रिया भगवान राम ने अपने हाथों से नहीं की, किन्तु जटायुजी के सम्बन्ध में वर्णन आता है किः——

तेहि कै क्रिया जथोचित निजकर कीन्हीं राम।

उनकी क्रिया प्रभु ने अपने कर कमलों से की।

भगवान राम जब शबरीजी के आश्रम में गए तो शबरीजी ने कहा–"प्रभुः––

अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।"३/३४/३

मैं तो अधम नारी हूँ, मतिमंद हूँ, गँवारी हूँ। भगवान ने कहा – "शबरी ! संसार में व्यक्ति जिन दस वस्तुओं से नाता जोड़ता है, मैं उनके द्वारा नाता नहीं जोड़ता।" और उस समय भगवान ने जो दस वस्तुएँ गिनाई उनमें सबसे पहले जाति का ही खंडन कर दिया। श्री राघवेन्द्र का वाक्य यही है किः––

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई।। ३/३४/५

अभी–अभी जाति का समर्थन करके आए थे, और अब कह रहे हैं कि मैं जाति आदि के द्वारा नाता नहीं जोड़ता ! प्रभु कहते हैं कि ये दस वस्तुएँ हों, पर अगर भक्ति न हो, तो ये सब उसी तरह व्यर्थ हैं जैसे बिना जल का बादल।

भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।। ३/३४/६

बादल तो सबको प्रिय लगता है पर अगर बादल आए और केवल गरज कर चला जाए, तो किसे प्रिया लगेगा ? व्यक्ति सोंचेगा कि यह व्यर्थ की आशा मन में जगाता है। बादल की सार्थकता तो तब है, जब उसमें जल हो। भगवान यह भी बता देते हैं कि वे सम्बन्ध कैसे मानते है। प्रभु ने कहा–"शबरी !

कह रघुपति सुनु भमिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता।।"३/३४/४

मैं केवल भक्ति का नाता मानता हूँ। वहाँ पर उन्होंनें इस नाते को केवल शबरीजी तक ही सीमित नहीं रखा अपितु, विस्तार देते हुए बताया कि:—

पुरूष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।। ७/८७(क)

किसी भी जाति वर्ण का हो, पशु या पक्षी ही क्यों न हो, जहां पर भक्ति है, भाव है, मैं वहीं पर नाता जोड़ने के लिए प्रस्तुत हूँ। इसीलिए मानों शंकर जी ने बंदर के रूप में जन्म लेकर जीव को आश्वासन दिया कि बंदर बनकर भी भगबान से नाता जोड़ने में कोई कठिनाई नहीं है। श्री हनुमान जी का भगवान से मिलन होता है और फिर :—

'स्वामि सखा पितु मातु गुरु' - - - -

आदि सारे नाते जुड़ते हैं। हनुमान जी के स्वामी, सखा, माता–पिता और गुरु सब भगवान् राम ही हैं। किन्तु कैसे जुड़ते हैं, आइए इस पर भी थोड़ा विचार कर लें। ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव निवास कर रहे हैं। श्री हनुमानजी उनके साथ हैं। बालि के भय से सुग्रीव संत्रस्त हैं। बालि सुग्रीव को मारने के लिए उसका पीछा करता रहा। सुग्रीव ने सुन लिया कि ऋष्यमूक पर्वत पर बालि नहीं आता। बालि की न आने की कथा भी बड़ी साधनात्मक तथा समझने योग्य है। बालि महानतम बलवान है, बुद्धिमान है तथा योग्य है। आप यह तो जानते ही हैं कि जैसे हनुमान जी भगवान शंकर के अवतार हैं वैसे ही इन्द्र के अंश के रूप में बालि का जन्म होता है एवं सूर्य के अंश के रूप में सुग्रीव का जन्म होता है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि सबसे उत्कृष्ट पुण्य करने वाले को इन्द्र का पद प्राप्त होता है। इस पुण्यमय बालि को मुनियों ने शाप दे दिया कि तुम यहाँ नहीं आ सकते। यह बड़ी तात्विक कथा है।

वर्णन आता है कि महानतम् बलवान तथा सामर्थ्यवाला, रावण को पराजित करनेवाला, इन्द्र का अंशवाला बालि एक बार दुंदुभि नाम के राक्षस का वध करके उसके शरीर को ऋष्यमूक पर्वत पर फेंक देता

है, जहां पर ऋषि मौन रहकर साधना में रत रहते हैं। राक्षस के शरीर की अस्थि एवं रक्त–मज्जा आदि से पर्वत पर स्थित मुनियों के वे आश्रम अपवित्र हो गए। मुनियों को जब ज्ञात हुआ कि यह कार्य बालि ने किया है तो उन्होंने उसे शाप दे दिया कि अगर बालि यहाँ प्रवेश करेगा तो उसकी मृत्यु हो जायगी। आपने विचार किया ? पुण्य करने वालों के लिए यह बड़े महत्व का सूत्र है। यद्यपि पुण्य करना बड़ा श्रेष्ठ तथा कल्याणकारी है। पुण्य का फल वैभव और भोग के रूप में मिलता है। पर समस्या यह है कि पुण्य के साथ दो वस्तुओं का भय होता है। एक है प्रदर्शन तथा दूसरा है अहंकार। वर्णन आता है कि बालि ने रावण को हरा दिया। पर प्रश्न यह है जब हरा दिया तो उसे या तो रावण को मार देना चाहिए था, या फिर हराकर छोड़ देना चाहिए था। पर कहा यह जाता है कि रावण को बगल में दबाकर बालि छः महीने तक घूमता रहा। उसे लगा कि मैंने रावण को हरा तो दिया पर अगर मैं किसी से यह बात कहूँगा तो वह विश्वास नहीं करेगा। लोग कहेंगे कि इसने हराया नहीं है, बस ऐसे ही डींग हाँक रहा है। इसलिए बगल में दबाकर घूम–घूम कर लोगों को प्रमाण–पत्र की तरह दिखाएँ कि 'लो देख लो, मैंने इसे हराया हैं'। यही अपने पुण्य का, विजय का प्रदर्शन है। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस रूप में पुण्य या विजय तो उसके लिए बोझ बन गई जिसे वह ढो रहा था।

रामायण में कहा गया कि पाँच वस्तुएँ संत में माध्यम से प्राप्त होंती हैं और वे पांच वस्तुएँ हैं :—

मति१ कीरति२ गति३ भूति४ भलाई५।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। १/२/५,६

पढ़करके विश्वास नहीं होता। क्योंकि कई ऐसे व्यक्ति हैं जो सत्संग में नहीं जाते, पर वे बड़े बुद्धिमान होते हैं। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जो सत्संग से चिढ़ते हैं, पर उनकी बड़ी कीर्ति होती है, सम्पत्ति भी होती है। तो फिर क्या यह कहा जाए कि गोस्वामीजी का यह दावा

कि 'बिना संत की कृपा से ये वस्तुएँ नहीं मिलती,' ही कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण है ? न–न ! ऐसा तो सम्भव ही नहीं है। हम यदि गोस्वामीजी की दृष्टि से देखें, तो इसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि सत्संग में जानेवाले को भी ये वस्तुएं मिलती हैं, और न जानेवाले को भी मिलती हैं, पर अंतर यह है कि जब न जानेवालों को मिलती हैं तो वे उसे ढोते हैं और सत्संग में जानेवालों के पास जब वे होती हैं तो वे उनका सुख प्राप्त करते हैं। इसे एक साधारण से दृष्टान्त के माध्यम से बड़ी सरलता से समझा जा सकता है।

जैसे, बाजार में आप जाएँ। सामान खरीदें और एक ढोने वाले मजदूर के सिर पर लाद दें। तो यद्यपि वस्तुएँ उस ढोने वाले के पास ही दिखाई दे रही हैं, पर उसे वे वस्तुएँ प्राप्त नहीं है। वह उन वस्तुओं के स्वामी होने का आनंद नहीं ले रहा है। बल्कि वह तो उन्हें ढोने का श्रममात्र ही प्राप्त कर रहा है। गोस्वामीजी कहते है, ठीक इसी प्रकार से जो सत्संग में नहीं जाते हैं, वे सम्पत्ति को ढोते हैं, बुद्धि को ढोते हैं और कीर्ति को ढोते हैं। और जो जाते हैं वे ढोते नहीं।

बालि अपनी कीर्ति को ढो रहा है। भला बताइए, क्या आवश्यकता थी उसे छः माह तक रावण को बगल में दबाकर ढोने की ? इसलिए इस कथा में संकेत मानों यह है कि व्यक्ति इसी प्रकार से इन वस्तुओं को ढोने का श्रम करता हुआ दिखाई देता है।

बालि के चरित्र की एक अन्य त्रुटि भी हमें दिखाई देती हैं कि वह राक्षस को मारकर उसे मुनियों के आश्रम में फेंक देता है। इसके द्वारा वह दिखाना चाहता है कि जो राक्षस आप लोगों को खा जाते हैं, मैं उन्हें मार डालने में सक्षम हूँ। मेरा पराक्रम देखिए। बस यही अभिमान और प्रदर्शन उसे सत्संग में जाने का अधिकारी नहीं रहने देता। इसका अर्थ है कि जब आप सत्संग में जाएँ तो तीन वस्तुओं को छोड़कर जाएँ तथा एक वस्तु को लेकर जाएँ। अन्तःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये चार वस्तुएँ हैं। पर भगवान श्री राम लक्ष्मणजी से कह देते हैं कि जब हम सत्संग में जाएँ, कथा सुनने जाएँ, तो उसमें:–

थोरेहि महुँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई।। ३/१४/१

'मन लगाओ, चित्त लगाओ, बुद्धि लगाओ' ।–"महाराज ! चौथी वस्तु अहंकार" ? बोले – "उसे छोड़कर आओ, क्योंकि अभिमानी व्यक्ति दूसरे की बात सुनेगा ही क्यों ? वह उसे महत्व ही क्यों देगा ?" परन्तु बालि के जीवन का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यही है कि इतनी योग्यता, सत्कर्म और पुण्य होते हुए भी उसमें अभिमान तथा प्रदर्शन की वृत्ति है।

सुग्रीव सूर्य–पुत्र हैं। आपने देखा होगा कि जब कभी आकाश में धूल छा जाती है, या धुवाँ छा जाता है, तो सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता। बादल यदि आ जाएँ तो दिन में सूर्य के होने पर भी उसका प्रकाश नहीं दिखता। इसी प्रकार सुग्रीव के जीवन में भी एक धूल छा गई है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में मानो धूल – धुआँ और बादलः–

नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।

जब हमारे ज्ञान को आच्छादित कर लेते हैं तो हमारा ज्ञानमय, प्रकाशमय जो स्वरूप है, वह परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि सुग्रीव बालि से अपेक्षाकृत गुणों में न्यून दिखाई देते हैं। भयाच्छन्न–वृत्ति के कारण उस प्रकाश का उनके जीवन में हमें दर्शन नहीं होता। पर वे बड़े सौभाग्यशाली हैं। उनकी पत्नी छूट गई, परिवार, धन–सम्पत्ति, राज्य, सुख, छिन गए, पर उस स्थिति में भी अगर उनके पास कोई रहा तो वे हैं, श्री हनुमानजी। सब छूट जाय पर फिर भी शंकरावतार हनुमान जी रहें तो यह बड़े सौभाग्य की बात है। सीधा–सा तात्पर्य है कि जीवन में सब छूट जाय पर यदि विश्वास बना हुआ है जिसके जीवन में, वह सब पा लेगा।

सुग्रीवजी ऋष्यमूक पर्वत पर श्री हनुमानजी के साथ बैठे हुए हैं। सामने से भगवान श्रीराम और श्री लक्ष्मणजी आ रहे हैं पर वे पहिचान नहीं पाते हैं। उनको लग रहा है कि बालि ने इन दोनों राजकुमारों

को मुझे मारने के लिए भेजा है। तब वे श्री हनुमानजी से अनुरोध करते हैं कि मुझे तो अपनी आँखों पर विश्वास नहीं है पर आपकी आँखों पर पूरा भरोसा है। आप बिल्कुल ठीक बताएँगे। इसलिए आप ब्राह्मण का वेष बनाकर जाइए:—

धरि बटु रूप - - - - - - - -

बेचारे सुग्रीव अपनी समझ से हनुमानजी की रक्षा के लिए बेचैन थे। उन्हें लग रहा था कि अगर ये वानर के रूप में गए और वे बालि के द्वारा भेजे गए हों तो फिर मेरा साथी समझकर इन्हें भी मार सकते हैं। इसलिए वे हनुमानजी से कहते है कि आप "बटु" का रूप बनाकर उन लोगों के पास जाइए। और वहाँ से ही मुझे संकेत कीजिएगा।

'बटु' विद्यार्थी को कहते है :—

बेद पढ़ैं जनु बटु समुदाई।

हनुमानजी ने सुग्रीव की आज्ञा का पालन किया। वे ब्रह्मचारी – विद्यार्थी बनकर गए। मानों हनुमानजी अपने गुरू के समक्ष सबसे पहले 'बटु' बनकर, विद्यार्थी बनकर गए। जिज्ञासु के रूप में गए। ब्राह्मण, ब्रह्मचारी का रूप बना लेना कोई कठिन कार्य है क्या ? वैसे तो रावण भी समस्त वेष बना लेने में बड़ा निपुण था। साधु का वेष बनाकर ही तो वह श्री सीताजी के पास गया था। पर विचित्रता यह है कि 'वेष साधु का और आचरण उसके विपरीत' यह रावण का स्वभाव है। किन्तु श्री हनुमान जी जब 'बटु' वेष में गए, सचमुच शिष्य ही बनकर अपनी जिज्ञासा रखते हैं। और गुरू– शिष्य का संवाद प्रारंभ हो गया। हनुमानजी जाते ही सबसे पहले गुरुजी को प्रणाम करते है:—

"बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।
माथ नाई पूछत अस भयऊ।।" ४/०/६

यदि आप बहिरंग दृष्टि से देखें तो प्रणाम करना उस वेष के अनुकूल नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण को अन्य सभी वर्ण प्रणाम करते हैं। पर हनुमानजी जो संबंध जोड़ रहे हैं, उसका दिव्य तत्व दूसरा है। वस्तुतः विद्यार्थी के ज्ञानार्जन का अंतिम लक्ष्य तो ईश्वर को ही जानना है। और यहाँ पर भगवद्–तत्व को जानने के लिए ही हनुमानजी उत्सुक हैं। पर उसे जानना सरल है क्या ? महर्षि बाल्मीकि भी यही कहते हैं किः–

जगु पेखन तुम देख निहारे।
बि़धि हरि संभु नचावनिहारे।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
औरु तुम्हहि को जाननिहारा।। २/१२६/१-२

उस रहस्य को जानना इतना कठिन है। किन्तु प्रश्न यह है कि फिर उसे जानने का उपाय क्या है ? इस सन्दर्भ में शास्त्रों में अनेक उपाय बताए गए हैं। रामायण में भी उनका वर्णन है।

जनकजी ने भगवान राम और श्री लक्ष्मणजी को देखा तो विश्वामित्र जी से पूछ दिया :––

''कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनि कुल तिलक की नृपकुल पालक।। १/२१५/१

मानों, एक उपाय यह है कि ऋषियों के द्वारा हम भगवद्–तत्व को जानने की चेष्टा करें। पर वन–पथ में जाते समय ग्राम–वधूटियों ने एक अन्य उपाय का आश्रय लिया। वे श्री सीताजी के पास ही जाकर बैठ गईं। और उनको प्रणाम करके कहने लगीः––

राजकुमारि बिनय हम करहीं।
तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं।।
राजकुअँर दोउ सहज सलोने।
इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।
स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुख सरद सरोरुह नैन।। २/११६

कोटि मनोज लजावनि हारे।
समुखि कहहु को आहिं तुम्हारें।। २।११६।१

इसका तात्पर्य है कि ऋषि से पूछिए या फिर भक्तिरूपा श्री सीताजी से पूछिए। और तीसरा उपाय वह है जो श्री हनुमानजी के द्वारा अपनाया गया। बाल्मीकिजी ने कहा था कि भले ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश आपको न जानते हों, पर आपको जाना जा सकता है। 'कैसे?' तो उन्होंने कहा :—

''सोई जानइ जेहि देहु जनाई।''

आप स्वयं जिसे अपना रहस्य बता दें, वह आपको जान सकता है। संसार में भी किसी धनवान व्यक्ति के पास कितना रुपया है, यह जानने के लिए एक उपाय तो यह है कि उसके घर में जाकर सेंध लगाएँ, या फिर तिजोरी तोड़े और उसके पास कितना रुपया है, यह गिन लें। पर इस विधि में डर है कि कहीं पकड़े न जाएँ और जेल जाना न पड़ जाय। इसलिए भगवान का रहस्य जानने के लिए सेंध लगाने की चेष्टा मत कीजिए। अपनी बुद्धिमत्ता की सेंध से वहाँ पैठने का प्रयास खतरनाक है। बुद्धि–तत्व से उस रहस्य को जानने का उपाय ठीक नहीं। पर यदि उस व्यक्ति से आपकी मित्रता हो जाय, तो वह बिना पूछे ही आपको अपना रहस्य बता देगा। इसलिए हनुमानजी का मार्ग सबसे सुंदर है। सुग्रीव ने कहा था कि जाकर पता लगाइए। किन्तु हनुमानजी ने सोचा कि इनका पता इन्हीं से पूछना चाहिए। यदि यही बता दें, तो सरल हो जायगा। तात्पर्य यह है कि रहस्य –ज्ञान के जिज्ञासु शिष्य को जो करना चाहिए, हनुमानजी ने वही किया।

भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं :—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' गीता ४/३४

यदि कोई मेरे रहस्यों को जानना चाहे तो उसका कर्तव्य है कि वह इस विधि से जाने। और विधि बताते हुए उन्होंने कहा ''प्रणिपातेन''

– पहले प्रणाम करे। फिर "परिप्रश्नेन", प्रश्न करे और फिर – "सेवया", सेवा करे। बहुत बड़ा सूत्र है यह। अभिप्राय यह है कि प्रश्न से ही ज्ञात हो जाता है कि यह जिज्ञासु है या मात्र प्रश्न करने की दृष्टि से ही प्रश्न किया गया है।

कई लोग केवल प्रश्न करने के लिए ही पूछते हैं, उसमें कोई जिज्ञासा नहीं होती। उनका प्रश्न मात्र एक बुद्धि–विलास के लिए होता है। हनुमानजी परम जिज्ञासु हैं। वे 'गुरुनाम गुरु' – गुरुओं के परम गुरु, ईश्वर के पास आते हैं। उन्हें प्रणाम करते हैं और फिर अनोखे ढंग से प्रश्न करते हैं। और प्रश्न करने के बाद उत्तर लेकर वे चले नहीं जाते। कई बार ऐसे जिज्ञासु मिल जाते हैं जो प्रश्न पूछते हैं और कहते हैं कि इसी समय उत्तर देकर जाइए।

भगवान कहते हैं कि जो आप सुनेंगे, उसे यदि धारण करेंगे, तब न उसकी सार्थकता है। वर्षा का जल चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, पर अगर आपके पास उसको ग्रहण करने की पात्रता न हो, तो आप उसका लाभ नहीं ले सकेंगे। पात्र गहरा न हो तो जल इकट्ठा नहीं कर पाएँगे। और पात्र गंदा होगा तो जल दूषित हो जाएगा। इसलिए रामचरितमानस में कहा गया कि :––

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।

सुंदर बुद्धि की भूमि हो और हृदय की गहराई हो। जो सुना उसे ग्रहण करके सेवा के माध्यम से उसे हम जीवन में उतार पाते हैं। और इस क्रम की परिपूर्णता हमें हनुमानजी के चरित्र में मिलेगी।

श्री हनुमानजी प्रणाम करते हैं। और जिस तरह से वे प्रश्न करते हैं तथा अंत में जैसी वे सेवा करते हैं, वह एक आदर्श है। प्रणाम के पश्चात् प्रश्न करने के बारे में बाल्मीकि रामायण में लिखा है कि श्री हनुमानजी के द्वारा किए गये प्रश्नों को सुनकर भगवान राम कहते हैं– "लक्ष्मण! यह विद्यार्थी जो भाषा बोल रहा है, वह आठों प्रकार के व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। उसका एक भी शब्द अशुद्ध नहीं है।"

श्री हनुमानजी यहाँ पर भी स्वामी और गुरु के रूप में वरण करते हुए पहला प्रश्न यही करते हैं – "को तुम"–आप कौन हैं, श्याम और गौर शरीर वाले ?

को तुम स्यामल गौर सरीरा।

और अगला वाक्य बड़े महत्त्व का है। उन्होंने कहा–"क्षत्रिय रूप धारी।" श्री हनुमानजी ने जब प्रणाम किया तो प्रभु श्री हनुमानजी की ओर मुस्कुराकर देखने लगे कि वेष तो ब्राह्मण का बना रखा है और अपनी ओर से प्रणाम कर रहे है ! इसलिए नाटक तो ठीक नहीं हो रहा है। जब ब्राह्मण बनकर आए तो कम से कम यह तो प्रतीक्षा करते कि मैं प्रणाम करूँ। यह क्या किया कि तुम ही प्रणाम करने लगे ? लगता है तुम विप्र नहीं हो, विप्र–रूप धारण करने वाले हो। श्री हनुमानजी समझ गए प्रभु के भाव को और तब उन्होंने भगवान के लिए शब्द चुना –– "छत्रिय रूप", अभिप्रायः था–"महाराज ! आप भी क्षत्रिय नहीं हैं, अपितु क्षत्रिय रूप धारी ही है। वस्तुतः हम दोनों ही नकली रूप धारी हैं।" और बात ठीक भी है। ईश्वर का कोई रंग होता है क्या ? ईश्वर का कोई वर्ग होता है क्या ? वह तो वस्तुतः:––

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द पर धामा।। १/१२/३

है। यही उसका परिचय है।

हनुमानजी कहते हैं–"महाराज ! मैं ब्राह्मण वेष में था, पर आप तो क्षत्रिय थे। आप मर्यादा में थे। मैं नहीं रुका, आपको प्रणाम कर दिया, पर क्या आप अपनी ओर से प्रणाम नहीं कर सकते थे ? आपने प्रणाम नहीं किया, इसका तात्पर्य है कि आप भी जानते थे कि सामनेवाला ब्राह्मण नकली है। केवल बेषधारी ब्राह्मण है, असल में तो यह बंदर है, हनुमान है। इसलिए हम इसे प्रणाम कैसे करें ?" और फिर श्री हनुमानजी के मुँह से जो शब्द निकला वह एक और नाते की और संकेत करता है। उन्होंने कहा प्रभुः––

"कठिन भूमि कोमल पद गामी।"

पृथ्वी बड़ी कठोर है और आपके चरण बड़े कोमल हैं। यह है "अखिल विरूद्ध धर्माश्रयता" अर्थात् समस्त विरोधी धर्म ईश्वर में निवास करते हैं। कोमल चरणवाले पृथ्वी पर नहीं, सवारी पर चलते हैं और पृथ्वी पर चलनेवालों के चरण कोमल नहीं रह जाते, कठोर हो जाते हैं। पर आपके चरण तो कोमल दिखाई दे रहे हैं, अतः आप बताएँ किः–

कवन हेतु बन बिचरहु स्वामी।।

यहाँ पर उन्होंने चरण को लेकर स्वामी के रूप में संबोधन किया। वस्तुतः भौतिक लीला में प्रश्नोत्तर के साथ–साथ, तात्विक अर्थ में भी यह संवाद चल रहा है। प्रभु प्रश्न सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो गए। उत्तर देने का मन नहीं हुआ। क्योंकि इतने विलक्षण तथा तात्विक ढंग से प्रश्न करनेवाला ! देखें और कोई प्रश्न करता है क्या ?

प्रभु ने श्री हनुमानजी की ओर देखा। मानो पूछ रहे हों – तुम तो विद्वान लगते हो, तुम्हारा क्या विचार है ? तुम्हें क्या लगता है, मुझें देखकर ?

हनुमानजी ने कहा कि जब पहले देखा तो ऐसा लगा किः––

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ।

आप बह्मा, विष्णु और शंकर में से दो हैं। पर बाद में लगा कि यह ठीक नहीं है, अपितुः––

नर नारायन की तुम्ह दोऊ।।

जब दो रूपों में आए हैं, तो क्या आप दोनों निरन्तर साथ रहने वाले नर और नारायण हैं ? किन्तु फिर भी भगवान श्रीराम बोल नहीं रहे हैं, अपितु प्रभु मंद–मंद मुस्कुरा रहे हैं। और तब हनुमानजी ने कहा–"प्रभु ! अब तो मुझे ऐसा लगा रहा है कि भले ही आप सामने दो दिखाई दे रहे हैं, रंग भी दोनों का अलग–अलग है, पर तात्विक दृष्टि से जो ब्रह्म एक है, वही आप हैं। कहीं आपः––

जन कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।। ४/१

साक्षात् ईश्वर ही तो अवतार लेकर नहीं आए हैं ?" प्रभु ने मुस्कुराकर देखा कि तीन, दो और अब एक ? दो तो हम यहाँ प्रत्यक्ष सामने खड़े हैं। हनुमानजी ने कहा–"महाराज ! पहले लगा कि आप दोंनों तीन में दो हैं। फिर लगा दो में दो हैं पर अब लगता है कि एक ही दो बनकर आ गया है।" वस्तुतः तो दो हैं ही नहीं। इसीलिए प्रारंभ में 'को तुम्ह' के रूप में एकवचन में जो प्रश्न किया गया, उसका कारण यही है। और जब यह प्रश्न किया कि :—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय वेष धरि की सोइ आवा।। १/२१५/२

तो प्रश्न सुनकर प्रभु मुग्ध हो गए। सोचने लगे, इस विद्यार्थी का ज्ञान तो अनुपम है। इसलिए इसकी थोड़ी बातें गहराई की और सुननी चाहिए।

भगवान श्रीराम कहते हैं–"वेदान्ती ब्राह्मण देवता ! मेरा परिचय तो बड़ा सरल है। बस :—

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए।।
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।। ४/१/३

मेरा यह परिचय है कि हम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं। पिता की आज्ञा से वन में आए हैं। हम दो भाई हैं। मेरा नाम राम है और मेरे छोटे भाई का नाम लक्ष्मण है। साथ में मेरी पत्नी भी थी, पर वन

में मेरी पत्नी चोरी चली गई, और मैं उनको ढूँढ़ता फिर रहा हूँ। और फिर इसके साथ–साथ यह भी कह दियाः––

आपन चरित कहा हम गाई।

मैंने अपना चरित्र गाकर सुनाया। रामायण में गाने की परिभाषा थोड़ी–सी अलग है। यहाँ पर 'गाना' और 'कहना' इन शब्दों के प्रयोग के पीछे रहस्य दूसरा है।

प्रभु ने कहा कि मैंने तो अपना चरित्र तुम्हें गाकर सुना दिया पर आप तो उच्च कोटि के कथावाचक लगते हो, इसलिए :––

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।

मैंने 'गा' दिया और आप 'सुना' दीजिए।

प्रभु का मीठा विनोद यह है कि 'गाने' में 'सुनने' का आनंद है और 'सुनाने' में 'समझने' का। मानों ऐसा नाता जुड़ा कि जिसमें बस आनंद ही आनंद है। यहाँ पर दो नातों की पुष्टि हो गई। एक नाता तो गुरु शिष्य का, तथा दूसरा नाता स्वामी और सेवक का। हनुमानजी गुरु, स्वामी माता और पिता बनाकर जो आनंद पाते हैं, उसकी चर्चा कल करेंगे।

।। बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय।।

(श्री रामः शरणं मम्)

(५)

स्वामी सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।

इस दोहे में भगवान से सम्बन्ध की बात कही गयी है। यद्यपि ज्ञान में 'भगवान का स्वरूप क्या है,' 'भगवान का तत्व क्या है' इसे सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। पर भक्त केवल उन्हें जानना ही नहीं चाहता। क्योंकि जैसे आप अनेक व्यक्तियों को जानते हों। किसी को सुनकर जानते हों, किसी को पढ़कर जानते हों। वैसे जानने का अपना एक आनन्द तो होता है, पर जिसे हम जानते हैं, उसे हम पहिचान भी लें यह कोई आवश्यक नहीं है। 'पहिचान' का अर्थ क्या हुआ ? पहिचान का अर्थ है कि दोनों ने एक–दूसरे को जान लिया। इसका तात्पर्य है कि पहले जानना और फिर पहिचानना। पहिचानने का भी एक बड़ा आनन्द है। पहिचान में घनिष्ठता हो सकती है, पर इससे भी ज्यादा महत्व इस बात का है कि जिससे हमारा परिचय है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध है कि नहीं ? और यदि ऐसा हो जाय तब तो फिर कहना ही क्या है !

श्रीमद्भगवद्गीता तथा रामचरितमानस दोनों में ही इन पद्धतियों का वर्णन है। गोस्वामी जी विनय–पत्रिका में यह कहते हैं कि जब तक अंतःकरण शुद्ध नहीं होगा तब तक भगवद्तत्व का बोध नहीं होगा। इस शुद्धि के लिये क्या करना चाहिये, इसका उपाय बताते हुये कहा कि ––

रघुपति भगति बारि - छालित चित,
बिनु प्रयास ही सूझै।

भगवान की मंगलमयी भक्ति का जो दिव्य जल है, उससे जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तो इसका परिणाम यह होता है कि बिना प्रयास के ही वह ईश्वर दिखाई देने लगता है, उसका बोध होने लगता है।

रघुपति-भगति बारि छलित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत-बूझत बूझै।।
(विनय-पत्रिका-१२४/५)

भौतिक विज्ञान की मान्यता है कि यह सृष्टि जड़ का विकास है। पर भक्त व दार्शनिकों की यह धारण है कि यह सृष्टि जड़ का विकास न होकर चैतन्य का विलास है। क्योंकि यदि प्रकृति के मूल में जड़ है, तो वह जड़ का विकास है, पर यदि मूल में चैतन्य ईश्वर ही है तब तो वह चैतन्य का विलास है। इसका अभिप्राय है कि भक्ति के अभाव में प्रकृति जड़ का ही एक रूप दिखाई देता है, किन्तु जब हमारे अंतःकरण में भक्ति का उदय होता है, तो हमें यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है कि इस जड़ दिखाई देनेवाली प्रकृति और पदार्थों के पीछे भी चैतन्य तत्व विद्यमान है।

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा कि जब कोई व्यक्ति मुझे तत्वतः जान लेता है, तो उसके पश्चात् वह मुझमें प्रविष्ट होता है।

'भक्तया भामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। गीता - १८/५५

रामचरितमानस में भी ठीक यही बात कही गई। यहाँ पर राम को जाना कैसे जायगा, इसका उपाय बताते हुये कहा गया कि :—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।। ७/८८/६

जब राम कृपा कर दें तभी हम उनकी प्रभुता को, महिमा को जान सकते हैं। पूछा गया–"तो क्या जान लेना ही अंतिम फल है ?" बोले–"न, न, – जान लेने के बाद भी प्रीति की आवश्यकता है, विश्वास की आवश्यकता है:—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाई राम प्रभुताई।।
जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होंहि नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।। ७/८८/८

इस प्रकार जानना, पहिचानना और फिर संबंध, ये तीन क्रम हैं। इनका संकेत श्री रामचरितमानस में बड़े सुन्दर रूप में दिया गया है।

धनुर्भंग के पश्चात् महाराज श्रीजनक का पत्र लेकर दूत श्री अवध में आए। महाराज श्रीदशरथ के हाथ में वह पत्र दिया गया। वे बहुत देर तक उसे एक बार नहीं अनेक बार पढ़ते हैं, और पढ़ने के बाद फिर उन्होंने प्रश्न करना प्रारम्भ किया। यदि ध्यान से पढ़ें, तो उन प्रश्नों की शब्दावली बड़ी विचित्र–सी लगती है। उन्होंने कहा –

''भैआ कहहु कुसल दोउ बारे।''

भैय्या ! यह बताओ कि हमारे दोनों पुत्र कुशल से तो हैं ? यद्यपि पत्र में तो सारा कुशल समाचार लिखा ही हुआ है कि कैसे धनुष टूटा, महाराज जनक ने कैसे विवाह की प्रक्रिया का समारंभ किया है, पर फिर भी वे प्रश्न करते हैं। वैसे प्रमियों की यह बड़ी अनोखी रीति है। क्योंकि कोई व्यक्ति अगर किसी एक बात की बार–बार आवृत्ति करे, तो उसे पुनरावृति–दोष के रूप में देखा जाता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि को वही बात प्रिय लगती है, जो नई हो, पर भक्तों को पुरानी बात ही प्रिय लगती है। उनको एक बार में संतोष नहीं होता। गोस्वामी जी ने यही लिखा है।

वर्णन आता है कि श्री हनुमानजी ने श्री भरतजी को सब कुशल संदेश, संक्षेप में, सुना दिया कि कैसे–कैसे प्रभु आने वाले हैं:––

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती।
रटह निरंतर गुन गन पाँती।।

रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता।।
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत।। ७/१/५

सुनकर श्री हनुमानजी का स्वागत करने के लिये श्री भरत खड़े हो गए। हनुमानजी चरणों में गिर गए। श्रीभरतजी ने उनको हृदय से लगा लिया और कहा कि आपने जो संदेश सुनाया है, उसका प्रतिदान तो मैं दे नहीं सकता। अब तो बस एक ही काम हो सकता है। क्योंकि ऋण अगर उतना हो कि जो चुकाया जा सके तब तो लेने तथा देने–वाले दोनों को ध्यान रहता है कि कितना लौटाना है, कितना वापस लेना है, पर आपने तो इतना दे दिया कि वह ऋण तो चुकेगा ही नहीं, इसलिए मैं चाहता हूँ कि ऋण थोड़ा और बढ़ा दीजिए ! और इसका उपाय यही है कि :––

अब प्रभु चरित सुनावहु मोही।

यद्यपि अभी–अभी सुन चुके हैं, पर फिर भी वे कहते हैं कि इतनी कृपा और कर दीजिये कि प्रभु का चरित्र सुना दीजिए। श्री हनुमानजी ने संक्षेप में वही कथा पुनः सुना दी। पर इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुये – 'अब फिर से कैसे सुनें' ?; इसलिये हनुमानजी से कहा कि आपने तो बड़ी अच्छी कथा सुनाई पर मेरे मन में एक बात जानने की इच्छा है कि:––

'निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो'

प्रभु ने इतने दिनों में क्या मेरा नाम – 'भरत' ऐसा कहकर, कभी याद किया ? ऐसा इसलिये पूछ रहे हैं, क्योंकि इसी बहाने फिर से प्रभु का चरित्र सुनने को मिलेगा। पर उसके साथ भरतजी ने एक वाक्य और जोड़ दिया था। यह नहीं कि मैं अयोध्या का सम्राट हूँ या महान व्यक्ति हूँ, इस रूप में नहीं, अपितु वह वाक्य है:––

'निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कस्यो'

क्या कभी प्रभु ने बातचीत चलने पर यह कहा कि भरत नाम का भी मेरा एक दास है' ? बस यही सुनने की इच्छा है कि प्रभु अपने निजदास के रूप में कभी याद करते हैं कि नहीं ? प्रश्न सुनते ही हनुमानजी गद्‌गद हो गए, श्रीभरतजी के चरणों में गिर पड़े। बोले–"महाराज ! आप पूछते हैं, कभी याद किया ? किन्तु मैंने तो कोई ऐसा दिन ही न देखा कि जब वे आपकी याद न करते हों।

रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो।।
राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात। ७/२

और तब वे फिर से कथा सुनाते हैं।

आगे चलकर रामराज्य हो जाने पर भगवान श्रीराम जब विश्राम के क्षण में होते हैं, तो श्रीभरतजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्री हनुमानजी कहते हैं कि थोड़ी देर के लिये आप वाटिका में चले, वहाँ कुछ बातें आपसे पूछनी हैं। और वहाँ ले जाकर क्या करते हैं, तो लिखा हुआ है कि :––

भरत सत्रुहन दोनउ भाई।
सहित पवन सुत उपवन जाई।।
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। ७/२५/४,५

यद्यपि सुनकर बड़े सुखी हो गए, पर कथा–समाप्त होने पर प्रार्थना करते हैं कि फिर से एकबार सुना दीजिये, पूरी तरह से समझ में नहीं आया। इस प्रकार बार–बार सुनते हैं। यही भक्ति का रस है। इसमें किसी तरह से संतोष होता ही नहीं। इसलिये रामायण में लिखा हुआ है कि जो सुनकर कहते हैं कि तृप्ति हो गई, वे रसिक नहीं हैं।

रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।। ७/५२/१

गोस्वामीजी महाराज श्री दशरथ की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ––

राम लखनु उर कर बर चीठी।
रहि गए कहत न खाटी मीठी।। १/२८६/५

वे बार–बार पढ़ रहे हैं, किन्तु पढ़ने के बाद भी संतोष नहीं होता। पूछते हैं – "हमारे दोनों पुत्र कुशलपूर्वक तो हैं ?" इसका अर्थ है–पढ़ तो लिया पर जरा सुनें भी तो ! सुनकर दूतों ने उत्तर नहीं दिया, केवल मुस्कराए। उनका अभिप्राय था कि आप के प्रश्न में इतना रस है कि पहले हम उसका आनन्द तो ले लें, उत्तर बाद में देंगे। दूतों को मौन देख पुनः कहने लगे –– "अच्छा ! यह बताइये, कि आप लोग केवल पत्र लेकर ही चलें आए या आपने उनको देखा भी ? क्योंकि हो सकता है, आपको पत्र दे दिया गया हो और आप लेकर चले आए हों।" दूत फिर भी बोले नहीं, पर थोड़ा मुस्कुराये। महाराज को लगा शायद इनको बुरा लग रहा होगा कि मैं इन पर इतना संदेह कर रहा हूँ कि इन्होंने देखा है या नहीं। ऐसा सोंचकर उन्होंने एक वाक्य और जोड़ दिया–"अच्छा, अगर देखा तो फिर अपनी आँखों से देखा कि नहीं।" अब तो सीमा हो गई ! पहले देखने में संदेह था पर अब अपनी आँखों से देखा कि नहीं, यह पूछ रहे है। फिर भी नहीं बोले, तो पूछ दिया कि अपनी आँखों से देखा तो फिर भली प्रकार से देखा कि नहीं ? आप तुलसीदासजी की शब्दावली को पढ़ेंगे तो वहाँ बड़ी विलक्षणता पावेंगे। वे यही कहते है।––

मैआ कहहु कुसल दोउ बारे।
तुम नीके निज नयन निहारे।। १/२६०/४

देखना, अपनी आँखों से देखना और अच्छी तरह से देखना !

गीतावली रामायण में वर्णन आता है कि एक सखी दूसरी से कहती हैं कि श्रीराम यदि इस समय आ जाते तो मैं भी देख लेती। "तुमने जो उस दिन उन्हें बड़े ध्यान से देखा था और देखती ही रह गई थी!" किन्तु वह सखी कहती है – "हाँ ! देखा तो था परः––

नीकै कै मैं न बिलोकन पाए।

मैं अच्छी प्रकार से, नीकी प्रकार से नहीं देख पाई !" किन्तु भई! वह कौन–सा देखना है जिसे 'नीके' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया?

दशरथजी का प्रश्न सुनकर लगता है, कि यह क्या संगत प्रश्न है ? पर भक्ति–रस की दृष्टि से इससे बढ़िया प्रश्न नहीं हो सकता। भगवान को आप वक्ता की आँख से भी देख सकते हैं, चित्रकार की आँख से भी देख सकते है, शिल्पकार की आँख से देख सकते हैं। पर अपनी आँख से देखना सर्वथा अलग दर्शन है।

जनकपुर में श्रीसीताजी की सखी जो भगवान राम का दर्शन करके आई थी, उससे सखियाँ पूछती हैं कि तुमने ऐसा क्या देखा कि इतनी मग्न हो ? और तब उसने वर्णन प्रारम्भ कर दिया कि ––

देखन बागु कुअँए दुइ आए।
बय किसोर सब भाँति सुहाए।। १/२२८/१

वाटिका में दो राजकुमार आए हैं जिनमें एक का रंग श्याम है और दूसरे का गोरा है। और उसके पश्चात् उसने सुनाना बंद कर दिया। सखियों ने कहा–"आगे भी तो सुनाओ।" किन्तु उसका तात्पर्य है कि मैंने जो देखा, उसका वर्णन किया है, अब तुम लोग सुनती ही रहोगी या चलकर अपनी आँखों से भी देखोगी ? इसलिए सुनाने की बात बंद करके कह दिया :––

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।
सुनि हरषीं सब सखीं सयानी।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी। १/२२८/३

वस्तुतः भक्त लोग अपनी आँखों से देखते है। 'नीके' शब्द गीतावली रामायण तथा रामचरितमानस में केन्द्रगत शब्द है, जिसमें न जाने कितना रहस्य आपको दिखाई देगा।

इतने प्रश्न के बाद भी दूत नहीं बोल रहे हैं। उन्हें लगता है–'अभी न जाने कितने प्रश्न बाकी हों ? इसलिए पहले प्रश्न ही पूरे हो जायँ।'

उसके पश्चात् महाराज श्री दशरथ ने कहा कि अगर आपने न देखा हो तो हम थोड़ा–सा उनका परिचय दे देते हैं। और वह परिचय है कि ——

'स्यामल गौर'

मेरे एक पुत्र का रंग श्यामवर्ण का है तथा दूसरे का रंग गोरा है। और 'धरें धनुमाथा' —— उनके हाथ में धनुष और बाण हैं। दूत चुप! किन्तु दशरथ जी को लगा – अ'रे ! वहाँ न जाने कितने श्याम–गौर वर्णवाले होंगे।' अतः कहने लगे कि यद्यपि मेरे पुत्रों में तो कोई विशेषता नहीं है लेकिन वे जिनके साथ हैं, वे अद्वतीय हैं।

वय किसोर कौसिक मुनि साथा।

वे महामुनि विश्वामित्र के साथ हैं। विश्वामित्रजी को तो आप लोगों ने जरूर प्रणाम किया होगा। दूत तो बोल ही नहीं रहे हैं। वे तो मानों प्रेमरस में निमग्न हो रहे हैं। तब महाराज श्रीदशरथ उनसे कहते हैं कि केवल देखने की बात नहीं, अच्छी तरह से देखने की भी बात नहीं, यह बताइये कि आपका उनसे परिचय हुआ कि नहीं ? बस मूल बात वही कि 'जानने के बाद पहिचान हुई या नहीं' ? इसलिये–"पहचानहु तुम", यदि आप कहेंगे कि देखा है, अपनी आँखों से देखा है, भली प्रकार से देखा है और पहिचानते भी हैं" पर हम ऐसे नहीं मानेंगे। –"तो फिर कैसे मानेंगे ?" उन्होंने कहा "–बस एक ही कसौटी है–

पहचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।

बस, यह बताओ कि उनका स्वभाव कैसा है ? तब तो हम मानेंगे कि पहिचान हुई है, अन्यथा नहीं।" और ये जो प्रश्न महाराज श्री दशरथ ने किये, श्री हनुमानजी के चरित्र में उनकी सार्थकता है। 'किस प्रकार से भगवान को देखा जाता है, अपनी आँखों से देखा जाता है, नीकी प्रकार देखा जाता है, किस प्रकार से पहिचान होती है और पहिचान होने से उसका स्वभाव पता लगता है'–इसका अभिप्राय है कि जब आप

दूर से किसी के विषय मे सुनते हैं, तो उसके प्रभाव का परिचय आपको प्राप्त होता है। और जब आप निकट चले जाते हैं, तो 'उसका स्वभाव कैसा है,' इसका ज्ञान होता है। हनुमान जी के चरित्र में इस क्रम को आप पूरी तरह से पाएँगे।

–'भगवान को देखना सरल है क्या ?' इसका उत्तर है कि यदि ऐसा होता, तो सुग्रीव ने भी तो भगवान राम को देखा था। किन्तु उन्हें तो यही लगा था कि ये राजकुमार बालि के द्वारा मुझे मारने के लिये भेजे गए हैं। इसका अर्थ यह है कि 'भगवान को देखने के लिये जो दृष्टि चाहिए, वह सुग्रीव के पास नहीं है। सुग्रीव सूर्य–पुत्र हैं अर्थात्–सूर्य की प्रकाशमयी दृष्टि से भी ईश्वर नहीं दिखाई देता। और तब वर्णन आता है कि अन्त में हनुमानजी उन्हें देखते हैं। किन्तु उनके देखने में भी एक क्रम है।

श्री हनुमानजी ने पहले उन्हें देखा। फिर और अच्छी तरह से देखा, उसके पश्चात् पूरी तरह गहराई से देखा। और तब प्रश्न किया। गोस्वामीजी उस दृश्य का वर्णन करते हुये कहते है—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।
माथ नाइ पूछत अस भयऊ।। ४/०/६

जब केवल देख रहे हैं तो प्रश्न किया :—

की तुम्ह तीन देव मँह कोऊ।

जब और गहराई से देखते हैं तो:—

नर नारायन की तुम्ह दोऊ।।

फिर हनुमानजी ने और भली प्रकार, गहरी दृष्टि से देखा, तब विचार आया :—

जगकारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ।।४/१

मानों व्यक्ति ज्यों–ज्यों भगवद्–तत्व को समझने की चेष्टा करता है, त्यों–त्यों अंतरंग में, और गहराई में पहुँचता जाता है। इस प्रकार यह कह लीजिये कि 'देखने का फल जानना, जानने का फल पहिचानना और पहिचानने के बाद स्वभाव का परिचय', श्री हनुमानजी के प्रसंग में आप यही बात पायेंगे।

जब हनुमानजी ने पूछा कि आप कौन हैं ? तो भगवान श्रीराम ने कहा कि मेरा परिचय तो सीधा–साधा–सा है।

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए।।
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।। ४/१/३

अयोध्या के राजा दशरथ के हम पुत्र हैं। और पिता की आज्ञा मानकर हम वन में आए हुये हैं। मेरा नाम राम है। मेरे छोटे भाई का नाम लक्ष्मण है। मेरे साथ मेरी सुंदरी पत्नी थी। उसका वन में किसी ने हरण कर लिया। हे ब्राह्मण देवता ! मैं उन्हीं को चारो ओर खोजता हुआ फिर रहा हूँ। इस प्रकार हमने तो अपना चरित्र गाकर सुना दिया।

आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।। ४/१/४

अब जरा आप भी अपनी कथा सुना जाओ। और जानने का फल अब मिलेगा। क्योंकि प्रभु ने अपना चरित्र बताया, यह तो है जानना और जानने का फल है '–पहिचानना,' वह मिल गया। क्योंकि ––

'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।'

वहाँ पंक्ति थी ––

'पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।'

अब यहाँ श्री हनुमानजी चरणों में गिर पड़े और चरणों को कसकर पकड़ लिया। उस स्थिति को देखकर भगवान शंकर कह उठते है–

सो सुख उमा जाहि नहिं बरना।
पुलकित तन मुख आव न बचना।
देखत रुचिर वेष कै रचना।। ४/१/६

हनुमानजी अब भी देख रहे हैं। वस्तुतः भक्तों का देखना तो समाप्त ही नहीं होता है। फिर अन्त में प्रभु की स्तुति करते हैं।

पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही।

और वही क्रम आगे बढ़ता जा रहा है। जैसे वहाँ पर कहा गया था कि भगवान को देखना और पहिचानना ही सब कुछ नहीं है, अपितु उनसे एक अपनापन, एक नाता जोड़ना, यही भक्त की अभिलाषा है। अयोध्यावासी यही तो कहते है कि हमारे राजा तो श्रीराम हैं। किन्तु सुननेवाले ने जब कहा कि वे तो सारे विश्व के राजा हैं ; सारे ब्रह्मण्ड के राजा हैं, तो अयोध्यावासियों ने एक शब्द और जोड़ दिया। उन्होंने कहा कि—

हम सम पुन्य पुंज जग थोरे।

जिन्हहिं रामु, जानत करि मोरे।। २/२७३/८

भगवान राम हमें 'अपने के रूप में' देखते हैं।

ज्ञानी के रूप में श्रीहनुमानजी की कितनी पैनी दृष्टि है कि उन्होंने भगवान को पहिचान लिया। पर उससे भी बड़ी बात है कि जब भगवान ने अपना परिचय दिया तो पहिचान ही नहीं लिया अपितु गोस्वामी जी ने लिखा कि :—

हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही।

ये 'मेरे स्वामी हैं', 'निज नाथ हैं,'—ऐसे निजत्व की अनुभूति हुई। इसके पश्चात् जो संवाद है, उसमें वही क्रम है — पहले देखना और फिर पहिचानना और अन्त में, पहिचान का जो फल होना चाहिए, उसका लाभ श्री हनुमानजी ने लिया।

भगवान श्रीराम ने जो परिचय दिया, वह तो बड़ा अटपटा था। प्रभु ने परिचय देते हुए न तो यह स्वीकार किया कि मैं 'नर–नारायण' हूँ, और न ही यह स्वीकार किया कि मैं तीनों देवताओं में से कोई हूँ। यह भी स्वीकार नहीं किया कि 'मैं जगतपति हूँ', बल्कि ऐसा लगता है कि प्रभु तो श्रीहनुमानजी की सारी बातों को काटने पर ही तुले हुए थे। हनुमानजी ने कह दिया था कि आप जग कारण हैं, तो प्रभु ने परिचय देते हुए कहा कि मैं जगकारण नहीं हूँ ? मैं तो महाराज दशरथ के कारण हूँ–

कोसलेस दशरथ के जाए।

हनुमानजी ने कह दिया था कि

की तुम्ह अखिल भुवनपति,

क्या आप भुवनपति हैं ? प्रभु मुस्कुराने लगे – "अरे भई ! अयोध्यापति होने वाला था, वह भी नहीं हो पाया, अयोध्या छोड़कर वन में आना पड़ा। और तुम भुवनपति की बात कह रहे हो ?

हम पितु वचन मानि बन आए।

इसके साथ–साथ हनुमान जी ने कह दिया था कि आप परम तत्व, परम ब्रह्म हैं, 'एक' है। तो उन्होंने कहा कि ब्रह्म का स्वरूप कहा जाता है :—

एक अनीह अरूप अनामा।

तुम देख ही रहे हो–'एक तत्व' कहाँ ? हम दो हैं – मैं और मेरा भाई। हम अरूप भी नहीं हैं, मैं साँवला हँ और मेरा छोटा भाई गोरा है। इस प्रकार हमारा रूप, रंग भी है। और रही 'अनाम' की बात तो मेरा नाम 'राम' है और इनका नाम 'लक्ष्मण'। इसके साथ–साथ ब्रह्म अनीह होता है, उसके लियेः–

अग जग मय सब रहित बिरागी।

किन्तु तुम हम दोनों भाइयों को देखकर यह न समझ लेना कि हम तपस्वी–विरागी है। न – नः––

संग नारि सुकुमारि सुहाई।

मेरी पत्नी तो बड़ी सुंदरी–सुकुमारी है। और तुम मुझे सर्वशक्तिमान ईश्वर मान रहे हो, जो भार उतारने आया है! किन्तु हालत यह है किः–

इहाँ हरी निसिचर बैदेही।

राक्षसों ने मेरी पत्नी का हरण कर लिया है। और जो तुम सर्वज्ञ, सर्वअंतर्यामी समझ रहे हो, तो मेरी स्थिति यह है कि :––

'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।'

हम उसी को ढूँढ़ते फिर रहे हैं। इस प्रकार हम न सर्वज्ञ, न सर्वशक्तिमान, न अनाम, न अरूप न अनीह और न ही जगकारण हैं। मानों हनुमानजी की सारी बात कट गई। पर भक्त तो कथावाचक था। कई बार लोग कथावाचक की बात सुनकर कह देते हैं कि इसका यह भी अर्थ था, यह तो पता ही नही था। और भई। जब हनुमानजी जैसा श्रोता मिल गया तो ऐसी उल्टी बात सुनाने का 'परिणाम क्या हुआ', वह सामने दिखाई देता है।

बस सूत्र वही है कि दूर से प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है और निकट से स्वभाव का हनुमानजी ने तुरंत कहा कि प्रभु ! मैं तो आपको पहिचान गया। और उन्होंने पहिचान ही नहीं लिया, कसकर पकड़ भी लिया।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।

प्रभु ने मानों आश्चर्य–से पूछा –– "क्या पहिचान लिया ? तुम्हारा बताया कोई लक्षण तो मुझमें मिलता नहीं !" हनुमानजी बोले – "प्रभु ! मैंने तो आपके प्रभाव का वर्णन किया था, दूर से सुनकर, पर आपकी कथा सुनकर लगा कि आप अपने प्रभाव की कथा न सुनाकर,

अपने स्वभाग की कथा सुना रहे हैं। क्योंकि पूरी कथा में आपका स्वभाव ही तो दिखाई दे रहा है।'' हनुमानजी ने बड़ा सुन्दर अर्थ लिया। उन्होंने कहा – ''प्रभु ! मैंने जब कहा कि आप संसार के कारण हैं, तो यह आपकी महिमा है, गौरव है कि आप इतने बड़े हैं। पर जब आपने यह कहा कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ,' तो दार्शनिक तथा भावना, दोनों की दृष्टि से उससे बढ़कर कोई बढ़िया बात नहीं हो सकती। क्योंकि अगर मैं यह कहूँ कि आप संसार के कारण हैं, तो ऐसा लगता है कि संसार कार्य है और ईश्वर कारण है। पर आगे बढ़कर देखेंगे तो पता लगेगा कि कारण भी वही है और कार्य भी वही है।'' यही बात रामचरिमानस में कही गई है।

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारण करन।।

१/२०८ (ख)

वह केवल संसार का 'कारण' ही नहीं है, अपितु 'करण' भी वही हैं। ''इसलिये महाराज ! आपने बहुत बढ़िया बात बता दी, अन्यथा मैं तो भूलवश कह बैठा था कि आप कारण हैं।''

जब आपने यह कहा कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो आपने मेरे भ्रम का निवारण कर दिया। क्योंकि अगर आप जगत्पिता है, तो 'पुत्र कौन है' ? 'संसार दृश्य हैतो इसका दृष्टा कौन है ?' इस सन्दर्भ में गुरुनानक देवजी का वह प्रसिद्ध वाक्य आपने सुना होगा जिसमें वे कहते हैं कि :—

'आपुन खेल आपु करि देखै।

वह स्वयं अपने खेल का निर्माण करता है और स्वयं देखता भी है। कार्य भी वही है, कारण भी वही है। यह तो केवल कार्य से आसक्ति हटाने के लिये उसे कारण के रूप में प्रतिपादन करते हैं। पर बाद में पता चलता है कि सब वही है।

पहले बताया जाता है कि भगवान 'सर्वउरालय हैं'–– सबके हृदय में है। हृदय अर्थात् चेतन में भगवान हैं। और जब इतना समझ में आ जाय तो फिर कहेंगे कि भगवान् 'सर्वगत हैं,' जड़–चेतन सब में हैं। रामायण में भी यह कहा गया कि आप ही सर्व हैं –– 'सर्व, सर्वगत, सर्वउरालय।'

जो 'दृश्य है, दृष्टा है, कार्य है, कारण है,' वह सब आप ही हैं।

हनुमानजी ने कहा – प्रभु ! आपकी उदारता का कैसा सुन्दर परिचय मिल गया। संसार में जब कोई बड़ा व्यक्ति नाता जोड़ता है तो यह ध्यान रखता है कि उसका गौरव बना रहे। पर जब आपने यह कह दिया कि मैं महाराज दशरथ का बेटा हूँ, तो मैं जान गया कि आप कितने उदार हैं कि जगत्पिता होकर भी आपने पुत्र बनने में संकोच का अनुभव नहीं किया। इतना ही नहीं आज तक शास्त्रों में पढ़कर मैने यह जाना था कि ईश्वर की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता:–

राम रजाई मेट मन माहीं।
देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं।। २/२६७/७

उसकी आज्ञा को कौन मिटा सकता है ? पर जब आपने यह कहा कि 'पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये मैं वन में आ गया हूँ' तो आपकी करुणा का परिचय मिल गया। क्योंकि जीव आपकी आज्ञा का पालन करे, यह तो शास्त्रों ने कहा है, पर आपका स्वभाव कितना कोमल है कि आप आज्ञा देते नहीं, आज्ञा माँगते है। और जब वन जाने जैसी कष्टदायक आज्ञा को भी आपने बड़ी सरलता से स्वीकार कर लिया तो पता चल गया कि' आपका स्वभाव कितना कोमल है। और जब आपने यह कह दिया कि 'मेरा नाम राम है, इनका नाम लक्ष्मण है,' तो उसमें भी आपके स्वभाव की कोमलता ही है। क्योंकि ईश्वर का तो न नाम होता है और न रूप ; पर आप नाम और रूप लेकर आए। इसका अभिप्राय है कि आपको लगा:––

अत्यक्तंहिगतिर्दुख देहवद्भिवप्यिते।

जो देहधारी हैं, वे मुझको देहरहित रूप में समझ नहीं पायेंगे, इसलिए आप 'अरूप' होते हुये भी करुणा करके 'दो रूप' बनाकर आ गए। 'बिना नाम' का होते हुये भी, जीव को आश्रय देने के लिये कितने सुन्दर 'दो नाम' बता दिए ? जब आपने कहा कि 'मेरी प्रिया खो गई है, मैं उनको खोज रहा हूँ' यह सुनकर तो मैं धन्य हो गया। क्योंकि सारे शास्त्रों और मुनियों ने यह कहा कि 'ईश्वर को खोजो, ईश्वर को खोजो,' पर आज पता चला कि अब जीव को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है, अब तो आप ही खोजने के लिये निकल पड़े हैं। इसलिये अब हनुमानजी ने प्रभु के स्वभाव का लाभ लेना प्रारंभ किया। वस्तुतः प्रभु का कोई प्रभाव जान ले तो फिर उनकी करुणा का परिचय मिल जाता है। और हनुमानजी ने वही जान लिया।

भगवान राम ने जब कहा कि ब्राह्मण देवता ! हमने अपना चरित्र गाकर सुना दिया, अब आप अपनी कथा सुनाओ। तो हनुमानजी ने प्रारंभ में प्रेम भरा उपालंभ, उलाहना देते हुये कहा–"प्रभु ! आपने जो यह प्रश्न किया, वह ठीक नहीं है।" आश्चर्य होता है, इतनी बड़ी धृष्टता कोई ईश्वर से करे, कहे कि 'आपके द्वारा पूछा गया प्रश्न सही नहीं है' ! किन्तु हनुमानजी महाराज तो बोलने में बड़े सजग हैं। उन्होंने यह नहीं कहा कि आपने पूछ कर अन्याय कर दिया, अपितु उन्होंने शब्द बड़ा सुन्दर चुनकर कहा ––

"मोर न्याउ मैं पूछा साई।"

मैंने जो पूछा कि 'आप कौन हैं', यह मेरा पूछना 'न्याय–संगत है' प्रभु ! उन्होंने यह नहीं कहा कि 'आपका पूछना अन्याय है'। पर आप सोचिए जब दोनों में से एक का पूछना न्याय है तो दूसरे का पूछना?

'तुम्ह कस पूछहु पर की नाई।।'

आप कैसे पूछ रहे हैं ? और पूछने के साथ साथ आप मेरा परिचय

पाना चाहते हैं, तो सुनिये। यद्यपि पवनपुत्र का परिचय तो बड़ा अद्‌भुत हैं। वे भगवान शंकर के अवतार हैं। जन्म लेते ही उन्होंने सूर्य को मुख में धारण कर लिया था, किन्तु हनुमानजी ने अपना परिचय गिन–गिनकर ऐसा सुनाया –

"एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।"

मैं मंद हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल हृदय हूँ, और अज्ञानी हूँ। यदि किसी व्यक्ति को कई दुःख हों, तो पूछा जा सकता है कि इनमें से सबसे ज्यादा दुःख तुम्हें किस बात का है ? प्रभु ने पूछ दिया–"हनुमान! तुम्हें सबसे ज्यादा दुःख किस बात का है, मंद होने का या मोहवश, कुटिल–हृदय या फिर अज्ञानी होने का ?" हनुमानजी ने कहा कि इनमें से किसी का कोई दुःख नहीं है। लेकिन सबसे बड़ा दुःख मुझे आपने दे दिया। क्योंकि आपने जो यह पूछ दिया कि 'ब्राह्मण देवता! तुम कौन हो ?' इस प्रश्न से मुझे सबसे ज्यादा दुःख हो गया।

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान।।४/२

दीनबंधु ! आपने मेरा विस्मरण कर दिया ! हनुमानजी का अभिप्राय था कि संसार में संबंध जोड़ने के लिये विशिष्टता चाहिए, किन्तु आप तो 'दीनबंधु' हैं। और दीनबंधु के लिये यह पूछना कि 'तुम कौन हो', क्या न्याय संगत है ? प्रभु पूछ सकते थे –– "तुम तो बड़े विद्वान हो, तुम कैसे भ्रम में पड़ सकते थे ? हम तुम्हारा भ्रम कैसे मान लें ?" किन्तु हनुमानजी ने कह दिया"–महाराज ! इसमें भी मेरा दोष नहीं है –

मोर न्याउ मैं पूछा साईं।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।।
तव मायाबस फिरउँ भुलाना।
ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना।। ४/१/८,६

प्रभु आपकी माया के कारण ही मैं नहीं पहिचान सका।'' भगवान कृष्ण गीता में कहते है––

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'

हनुमानजी ने भी ठीक यही कहा –––

''नाथ जीव तव मायाँ मोहा।''

प्रभु ! जीव तो आपकी माया से मुग्ध है। और तब हनुमानजी चुन–चुन कर अपनी माँग रखते हैं। हनुमानजी ने कहा–'' प्रभु ! मैं समझ गया कि आप अवतार लेकर क्यों आए हैं। यद्यपि आप तो सबसे ऊपर अपने लोक में बैठे हुये थे, किन्तु जब आपने परिचय दिया कि मैं दशरथ का पुत्र हूँ, लक्ष्मण का बड़ा भाई हूँ, सीताजी का पति हूँ, तो मुझे ऐसा लगा कि आप सम्बंध जोड़ने के लिये ही निकले हुये हैं। इसलिये बता रहे हैं कि कौन पिता है, कौन भाई है, कौन पत्नी है, किन्तु अब जो रही – सही कमी है, वह हम पूरी कर देते हैं। जो नाते जुड़ने से रह गये हों, हम वे नाते भी जोड़कर उन्हें पूरा कर देते हैं।'' हनुमानजी ने कहा–''महाराज ! तीन नाते तो आपने गिना दिये। किन्तु आपने यह नहीं बताया कि 'आप किसके स्वामी हैं', आपके परिचय में यह कमी रह गई।'' वस्तुतः भक्त जब भगवान के स्वभाव को जान लेते हैं तो वे भगवान से ऐसी बात कह देते हैं जिसे कहने का साहस कोई दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता।

भगवान राम ने तुलसीदासजी से पूछा – ''तुमने मेरे चरित्र का वर्णन किया। और मेरे अनन्त गुणों में से तो सब लोग अलग–अलग गुण ग्रहण करते हैं। शंकर जी ने मेरे तत्वज्ञान को (गहराई को) जाना। कागभुशुण्डिजी ने मेरे गुण और महिमा को जाना। याज्ञवल्क्य ने हमारे कर्म–सिद्धान्त; विधान व नियम को ज़ाना। पर यह बताओ कि तुमने मेरे चरित्र से क्या लिया ?'' गोस्वामीजी ने उत्तर देते हुये कहा – ''महाराज! इन सबने तो आपसे लिया, पर मैंने, आपमें जो कमी थी, उसे पूरा किया है।'' मुस्कुराकर भगवान राम ने पूछा–''अच्छा ! शंकरजी

लेते हैं ; कागभुशुण्डिजी लेते हैं, याज्ञवल्क्यजी लेते हैं और तुम मेरी कमी पूरी करने की कहते हो ?'' तुलसीदासजी ने कहा कि मैंने देखा कि उस कमी को न शंकरजी पूरा कर सकते हैं ; न कागभुशुण्डि जी और न ही याज्ञवल्क्यजी, वह कमी तो बस मैं ही पूरी कर सकता हूँ ? क्योंकि आपके चरित्र का वर्णन मैंने जल के रूप में किया है, और जल में गहराई होनी चाहिए, तो शंकरजी गहराई वाले हैं।

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोई बर बारि अगाधा।। १/३६/२

जल में शीतलता और मिठास होनी चाहिए। वह भी है। और उसके ग्राहक भुशुण्डि जी हैं।

प्रेम भगति जो बरनि न जाई।
सोइ मधुरता सुसीतलताई।। १/३५/६

प्रभु–जल–चरित्र में स्वच्छता होनी चाहिये, तो इस स्वच्छता का वर्णन याज्ञवल्क्यजी करते हैं।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी।
सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।। १/३५/५

प्रभु ! जल में जो गहराई चाहिये, वह आपके पास है, स्वच्छता चाहिए, वह भी आप में है। जल में मधुरता चाहिए, वह भी आपके चरित्र में विद्यमान है। शीतलता भी आपके चरित्र के जल में विद्यमान है। इस प्रकार मैंने देखा कि जल में जितने गुण होते हैं, वे सबके सब आपके चरित्र में हैं, पर इतना होते हुये भी जल का एक गुण आप में नही है। भगवान को आश्चर्य हुआ–क्या नहीं है ?

उन्होंने कहा –– ''प्रभु ! जल सब प्रकार से अच्छा हो, पर अगर वह 'भारी' है, तो फिर वह पचेगा नहीं।'' जल की प्रशंसा में तो यही कहा जाता है कि यह बड़ा 'हलका' जल है ! और ''प्रभु ! समस्या यह है कि आपके चरित्र में सारे गुण हैं, पर हल्कापन कही नहीं है।'' और

भई ! सही बात भी है, क्योंकि जल के साथ कह दीजिये कि हल्का है, प्रशंसा हो गई पर यदि किसी व्यक्ति के लिये कहा जाय कि 'इसका चरित्र हल्का है', तो यह निंदा है।

इसलिये जब हनुमानजी ने कहा कि मैं मंद हूँ, तो प्रभु ने भी हँसकर कहा कि बहुत अच्छे ! मैं तो चाहता हूँ कि तुम सदा मंद ही बने रहो। क्योंकि संसार में मंद बुद्धि होना अवगुण है, पर वायु का मंद होना गुण है —

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।

वायु तो जितनी मंद हो, उतनी ही आनंददायी होती है। तुम तो पवनपुत्र हो, और जब तुम मंद रहोगे तभी तो सुख दोगे। अगर तुम्हारा तेज बहने का मन हो, तो उस रूप में लंका में ही जाकर बहना। 'प्रभंजन – सुत' का रूप वहीं ठीक है।

गोस्वामीजी ने कहा – "प्रभु! मैंने देखा कि आपके चरित्र में हल्कापन है नहीं और शंकर जी में भी हल्कापन नहीं है, तो वे भला इसे पूरा कहाँ से करेंगे ? यह हल्कापन भुशुण्डि जी तथा याज्ञवल्क्यजी के चरित्र में भी नहीं है। पर मेरे चरित्र में तो बस हल्कापन ही है, और कुछ नहीं है। तो चलिये, इसे मैं आपको दिये देता हूँ, आप इसमें अपने गुण मिला दीजिए तो इसका भी उपयोग हो जायगा और आपका चरित्र–जल भी हल्का होकर पचने योग्य हो जायगा।"

सूत्र मानो यह है कि भगवान का चरित्र यदि बहुत ऊँचा हो, और वह उतने ही ऊँचे चरित्रवालों के लिए हो, तो साधारण व्यक्ति तो उससे लाभ नहीं ले पाएगा। गोस्वामीजी का तात्पर्य है कि लोग जब यह देखेंगे कि तुलसीदास जैसे हल्के चरित्रवाला, अत्यन्त निम्न धरातलवाला व्यक्ति भी जब धन्य हो गया, तो इस हल्केपन के योग से आपका चरित्र पचनेवाला बन जायगा।

हनुमानजी ने कहा – "प्रभु ! जब आप इतने नाते जोड़ चुके तो आइए, आप शेष नाते भी जोड़ने की कृपा करें।" और तब स्वामि, सखा, पितु–मातु, गुरु का हनुमानजी ने एक सूत्र दिया––

मोर न्याउ मैं पूछा साई।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाई।। ४/१/८

और फिर नाते जोड़ते हुये उन्होंने कहा –

"सेवक सुत पति मातु भरोसें।" ४/२/८

"मैं आपका सेवक हूँ, आपका पुत्र हूँ। और जैसे सेवक और पुत्र, स्वामी और माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है––

रहई असोच बनइ प्रभु पोसें। ४/२/४

ठीक वही स्थित मेरी है। महाराज ! बालक में कोई मलिनता हो तो वह मलिनता बालक की नहीं मानी जाती।" वैसे हम–आप यदि गंदा कपड़ा पहिन लें, तो लोग कहेंगे कि बड़ा गंदा है। पर बच्चा अगर गंदा कपड़ा पहिने हुये हो तो लोग कहेंगे कि इसकी माँ कितनी गंदी है, जिसने बच्चे को ऐसा गंदा कपड़ा पहिना रखा है। "प्रभु ! आप मेरी माँ है, मेरे स्वामी हैं।"

हनुमानजी ने पहले प्रभु को देखा, अच्छी तरह से देखा, पहिचाना, स्वभाव का आनन्द लेने लगे, और फिर अन्त में संबंध जोड़ दिया। तथा भगवान श्रीराम ने इसे तुरन्त स्वीकार भी कर लिया। हनुमानजी ने सोचा कि मौका अच्छा है, साथ–साथ मंत्र दीक्षा भी लें लें, गुरु भी बना लें। इसलिए कहने लगे:––

"ता पर मैं रघुबीर दोहाई।
जानउँ नहिं कछु भजन उपाई।।" ४/२/३

महाराज ! मैं यह नहीं जानता कि भजन कैसे किया जाता है, भक्ति कैसे की जाती है। मैं सेवक बनना चाहता हूँ पर यह नहीं जानता कि सेवा कैसे की जाती है। हनुमानजी का तात्पर्य था कि मैं तो प्रत्यक्ष हुआ तब मानूँगा कि जब आप एक बंदर को भी अपना पुत्र बना लें, सेवक बना लें, और दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लें। और प्रभु ने सचमुच उन समस्त नातों को स्वीकार कर लिया।

प्रभु से स्वामी का नाता जोड़ना तो सरल है। पर यहाँ यह कहना कठिन है कि सेवक धन्य है या स्वामी धन्य है। वस्तुतः प्रभु जैसा स्वामी पाकर हनुमानजी धन्य हो गये और हनुमानजी जैसा सेवक पाकर प्रभु धन्य हो गये।

हनुमानजी ने पूछा–"महाराज ! भक्ति कैसे की जाती है ?" तो प्रभु ने सेवा–धर्म की शिक्षा देते हुये कहा :—

"सो अनन्य जाकें असि मति न टरई हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।"४/३

'सारे संसार में, अपने स्वामी का रूप मानकर सबकी सेवा करना' यही मेरी भक्ति है। मानों प्रभु ने हनुमानजी को शिष्य बना लिया और सेवक बना लिया। हनुमानजी ने पुत्र बनाने की बात भी कही थी, किन्तु भगवान राम ने वह बात कुछ समय के लिये टाल दी। इसके पीछे प्रभु का संकेत मानो यह था कि पुत्र बनाने में जिनकी सम्मति चाहिये, जब उनके पास जाकर उनका प्रमाण – पत्र लेकर लौटोगे, तब न पुत्र बन पाओगे ! उनका संकेत श्रीसीताजी की ओर था। पहले श्री हनुमानजी सेवक बने, शिष्य बने और फिर बाद में पुत्र भी बन गए। पर हनुमानजी की महानता यह है कि वे मात्र अपना ही संबंध नहीं जोड़ते बल्कि दूसरों का भी संबंध प्रभु से जोड़ते है और एक बार जब प्रभु ने संबंध मान लिया तो फिर संबंधों के विस्तार में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती है। इसलिए आगे चलकर वे प्रभु से कहते है–

''नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।।'' ४/३/२

महाराज ! पर्वत पर बंदरों के राजा रहते हैं, वे आपके दास हैं। यद्यपि सुग्रीव न तो राजा थे और न ही दास थे। उनका राज्य छिना हुआ था, पत्नी छिनी हुई थी, परिवार नहीं था किन्तु उसे हनुमानजी राजा बताने लगे। और साथ–साथ यह भी कह दिया कि आपके दास हैं। तो क्या यही दासत्व है कि भगवान को देखकर :—

पठए बालि होहिं मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला।। ४/०/५

भागने की तैयारी कर रहे थे ! हनुमानजी से बाद में एक दिन विनोद में प्रभु ने पूछा–''तुमने सुग्रीव को राजा और दास क्यों कहा था?'' हनुमानजी ने कहा–''प्रभु ! मैं दूसरों से बिल्कुल न कहता, पर आप से तो कह सकता हूँ कि सुग्रीव बंदरों के राजा हैं। क्योंकि मुझे ज्ञात है कि जब कैकेयी अम्बा ने राज्य छीनकर आपको वनवास दिया था, तो आपने कौशल्या अम्बा से कहा था कि:—

पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू।

पिताजी ने मुझे जंगल का राज्य दिया है। तो मैं समझ गया कि आपके यहाँ परिभाषा कुछ भिन्न ही है। और जैसे राजा आप हैं, वैसे ही राजा ये भी हैं।'' और 'दास' की व्याख्या तो और भी बढ़िया है।

संसार में स्वामी लोग सेवक इसलिए रखते हैं कि सेवक उनकी सेवा करें। पर भरत जी ने कहा कि हमारे स्वामी भगवान श्रीराम, स्वामी इसलिये बनते हैं कि वे सेवक की सेवा करें।

को साहिब सेवकहिं नेवाजी।
आपु समाजु साज सब साजी।। २/२६८/५

वस्तुतः प्रभु स्वामी बनकर सेवक की सेवा करते हैं।

सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।
भुजा उठाइ कहहुँ पन रोपी।। २/२६८/७

ऐसा स्वामी कहीं नहीं मिलेगा कि जो स्वामी बनकर सेवा करे। यह कहा जा सकता है कि यदि सेवा ही करनी है, तो फिर सेवक बन जाएँ। प्रभु ने कहा ––"नहीं, नहीं, अगर भक्तों के पास सेवक बनकर जाऊँगा और कहूँगा कि सेवा स्वीकार करो, तो वे कह देंगे–नहीं महाराज ! ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये स्वामी बनकर जाता हूँ क्योंकि स्वामी को आज्ञा देने का पूरा अधिकार है। सेवक पूछता है कि क्या आज्ञा है? तो मैं कह देता हूँ कि यही आज्ञा है कि मैं जो सेवा करूँ, उसे चुपचाप स्वीकार करो।"

हनुमानजी ने कहा–"महाराज ! जैसे सेवकों की खोज आपको रहती है, सुग्रीव आपके वैसे ही दास हैं। आप उनकी खूब सेवा कीजियेगा और वे आनंद से ले लेंगे।" फिर कहा कि स्वामी तो सेवक को सेवक ही रखना चाहता है, पर आपका स्वभाव है कि आप सवेक को भी मित्र बना लेते हैं। इसलिए :––

तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।

आप उनको मित्र बना लीजिये। साथ–साथ एक मीठा विनोद भी किया। जैसे कोई व्यक्ति जाए 'पद' पाने और पता चले कि 'पद' खाली नहीं है, तो निराशा होती है। हनुमानजी ने कहा–"महाराज ! नाते तो सब जुड़ गये, अब मैं यही कहूँगा 'सुग्रीव आपके सेवक हैं और उनको बना लीजिये मित्र', इसके पीछे मेरा उद्देश्य यह है कि जब आप सेवक को मित्र बना लेंगे तो सेवक का जो 'पद' खाली हो जायगा, उसे मुझे दें दीजियेगा। इस प्रकार आपको सारे नाते मिल जाएँगे और जीव भी धन्य हो जाएगा।"

प्रभु वन में इसंलिये आए क्योंकि अयोध्या में जो नाता जोड़ना था, वह सब जोड़ लिया, मिथिला में जो नाता जोड़ सकते थे जोड़ा, किन्तु कोल–किरात, भील, गीध, शबरी तथा बंदर–भालू इन सबसे नाता जोड़ने के लिये ही प्रभु यह लंबी यात्रा कर रहे हैं। उस प्रभु से जो सभी नाते जोड़ लेगा, उनके मन–मंदिर में वे निवास करते हैं। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में–

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।२।१३०

और हनुमान जी के हृदय में तो वे निवास करते ही हैं।

"बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय।"

(श्री रामः शरणं मम)

(६)

महर्षि वाल्मीकि कहते है कि श्री रामभद्र ! जिनके जीवन में सारें सम्बन्धं बटे हुए न होकर एक मात्र केवल आपसे हैं, आपके वे भक्त जो केवल आपको ही स्वामी समझते हैं, सखा समझते हैं, माता–पिता और गुरु समझते हैं, आप ऐसे भक्तों के मन–मन्दिर में निवास कीजिए। इस सन्दर्भ में दो पात्रों का नाम लिया गया था। यह कह लीजिए कि महर्षि का यह वाक्य जिन दो पात्रों के जीवन में पूरी तरह चरितार्थ होता है वे पात्र हैं–श्री लक्ष्मणजी और श्री हनुमानजी। श्री लक्ष्मण, भगवान श्री राम को स्वामी समझते हैं, भगवान उनके सखा भी हैं, श्री राम उनके माता–पिता भी हैं तथा श्री राम उनके गुरु भी हैं। यही स्थिति श्री हनुमानजी की भी है। किन्तु दोनों में यत्किचित् भिन्नता अवश्य है। यह बात बड़ी अनोखी पद्धति से सामने आती है।

भगवान श्री राम से श्री हनुमानजी की पहली भेंट के समय प्रारम्भ में प्रभु ने जो अभिनय किया, उसे देखकर हनुमानजी ने उलाहने के स्वर में कहा भी कि प्रभु ! आपने मुझसे जो यह पूछ दिया कि 'तुम कौन हो?', इस प्रश्न को सुनकर मेरा हृदय अत्यन्त व्यथित है। मानों संकेत यह था कि जीव तो आपको भुला ही देता है, क्योंकि वह माया के वशीभूत है, किन्तु यदि आप भी जीव को विस्मृत कर देंगे, तब तो फिर उसके कल्याण का क्या मार्ग रह जायगा ? और ऐसा कहकर श्री हनुमानजी ने पुनः प्रभु के चरणों में नमन किया।

सबसे पहले जब हनुमानजी आए थे तो उन्होंने सिर झुकाकर प्रणाम किया था। जब प्रभु को पहिचान लिया तो चरणों में गिर पड़े तथा चरणों को पकड़ भी लिया। और भगवान राम को उलाहना भी दिया,

पर ऐसा लगता है कि भगवान राम पर उसका जो प्रभाव होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। गोस्वामीजी कहते हैं कि तब हनुमानजी ने तीसरी बार, फिर से, प्रभु के चरणों में प्रणाम किया और कहा – "प्रभु ! सेवक स्वामी के भरोसे निश्चिन्त रहता है और पुत्र माँ के भरोसे निश्चिन्त रहता है। आप मेरे स्वामी भी हैं और माता भी। बालक अपने स्वभाववश माता को भुला सकता है, पर माँ यदि बालक को भुला दें, तब फिर उसकी सुधि लेनेवाला कौन है ?" इतना कहकर हनुमानजी पुनः चरणों में प्रणाम करते हैं। और उस प्रणाम के पीछे एक निहित तात्पर्य भी था।

जब आप किसी को प्रणाम करते हैं तो सामनेवाला भी उत्तर में आपको या तो प्रणाम करेगा अथवा आशीर्वाद देगा। प्रभु श्री रामभद्र के चरित्र से बढ़कर शिष्टाचार आज तक किसी अन्य में दिखाई नहीं देगा। और यदि प्रभु को कोई प्रणाम करे तो प्रत्युत्तर अवश्य प्राप्त होगा। गोस्वामीजी ने विनय–पत्रिका में लिखा कि भगवान श्री रामभद्र इतने कृपालु हैं कि यदि एक बार कोई उन्हें प्रणाम कर देता है, तो वे संकोच में पड़ जाते हैं।

त्यौं न राम सुकृतग्य जे
सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ।

और सोचने लग जाते हैं कि इसके प्रणाम का क्या उत्तर दूँ ? इसे मैं क्या दूँ ? पर आश्चर्य है कि हनुमानजी जैसा महान भक्त सिर झुकाए, चरणों को कस कर पकड़े हुए है पर वे कोई आशीर्वाद नहीं देते, बस स्थिर भाव से श्री हनुमानजी की बातों को सुन रहे है। हनुमानजी को लगा कि इसका कारण क्या है ? प्रभु इतनी दूरी क्यों बनाए हुए हैं ? और तब उनका ध्यान अपनी ओर चला गया। क्योंकि पहली बार सिर झुकाया तो ब्राह्मण के रूप में थे। जब चरणों को पकड़ा तब भी ब्राह्मण के ही रूप में थे। यद्यपि प्रभु बोल नहीं रहे हैं पर मन ही मन भगवान तथा भक्त का सम्वाद चल रहा है।

यदि प्रभु से पूछा जाय कि आपकी ओर से कोई उत्तर क्यों नहीं मिल रहा है ? तो प्रभु का अभिप्राय यह है कि मेरे सामने बड़ा धर्म संकट

है। क्योंकि एक ओर यदि मैं आपको ब्राह्मण मानूँ और दूसरी ओर मैं आपको आशीर्वाद दूँ, यह तो धृष्टता की पराकाष्ठा है, मर्यादा के विरुद्ध है। इस समय आप ब्राह्मण के वेश में हैं, तो हनुमान के रूप में स्वीकार कैसे करूँ ? इसलिए मैं समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि आपको प्रणाम करना चाहिए या आशीर्वाद देना चाहिए ? और तब हनुमानजी को लगा कि भूल तो मुझसे ही हो रही है।

इस सन्दर्भ में एक सूत्र यह भी मिल गया कि ब्राह्मण के रूप में यदि प्रभु उनकी प्रशंसा भी करते तो उससे यह भ्रान्ति हो सकती थी कि ईश्वर को पाने के लिए ब्राह्मण होना ही आवश्यक है। कई लोग इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थि से ग्रस्त होते हैं। एक सज्जन ने मुझसे कहा कि शबरी तो ब्राह्मणी थी। इसके पीछे भावना यह है कि इतना ऊँचा भक्त ब्राह्मण को छोंड़कर और कौन होगा ? पर भई ! रामायण में तो स्पष्ट ही लिखा हुआ है कि :––

जातिहीन अघ जन्म महि मुक्ति कीन्हि अस नारि।

यद्यपि रामचरितमानस में ब्राह्मण की महिमा की पंक्तियाँ तो आई हुई हैं, और भगवान भी बार–बार उन्हें वन्दनीय बताते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी रामचरितमानस का एक सूत्र है जिसमें भगवान राम ने कहा है कि मैं केवल भक्ति का ही नाता मानता हूँ। अतः ब्राह्मण को बहुत अधिक महत्व देने के बाद भी अगर आप आगे की कक्षाओं की ओर दृष्टिपात करेंगे, तो वह 'ब्राह्मणत्व' बहुत नीचे रह जाता है।

कागभुशुण्डिजी ने भगवान श्री राम से पूछा – "प्रभु ! आपको प्रिय कौन है ?" इस प्रश्न को पूछने में उनका तात्पर्य था कि आप अलग–अलग प्रसंगों में अलग–अलग पात्रों को प्रिय बता देते हैं। अतः समझ में नहीं आता कि आपको सर्वाधिक प्रिय कौन है ? इस पर प्रभु ने कहा–"मुझे तो सब प्रिय हैं। और इसका कारण है ––

अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया।। ७/८६/७

इस सृष्टि का निर्माण मैंने किया है, तो स्वाभाविक रूप से, ये सब मेरी सन्तान हैं, इसलिए मुझे प्रिय हैं।" कागभुशुण्डिजी ने फिर कहा – "महाराज ! जैसे पिता का किसी न किसी एक पुत्र पर ज्यादा स्नेह होता है, क्या आपके यहाँ भी प्रियता में इस प्रकार का अन्तर है या समानता ही समानता है ?" प्रभु ने कहा "हाँ ! अन्तर है। यद्यपि सारे मनुष्य मुझे प्रिय है, पर उनमें ब्राह्मण अधिक प्रिय हैं।"

'तिन्ह महँ द्विज' – और ब्राह्मणों में भी– 'द्विज महँ श्रुतिधारी' –वेदज्ञ ब्राह्मण मुझे अधिक प्रिय हैं। और इस क्रम के अन्त में वे कहते हैं कि :––

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।। ७/८५/७

इन सबमें मुझे अपने वे दास प्रिय है, जिनके जीवन में केवल मेरी ही गति है, तथा जिन्हें रंचमात्र भी कोई दूसरी आशा नहीं है। इसका अभिप्राय है कि समाज की परम्परा की दृष्टि से भगवान श्री राम द्विज को सन्मान दें, यह उनके चरित्र की मर्यादा के अनुकूल है। पर प्रियता के भाव से वे कहते है कि जो अनन्य भाव से मुझ पर ही आश्रित हैं, वे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। रामचरितमानस में भी आप इसी भाव की पुष्टि पाएँगे।

पार्वतीजी के प्रश्न में भी यही भाव व्यक्त होता है कि भगवान का भक्त संसार में सबसे दुर्लभ होता है। उनका शब्द भी यही है कि: –

नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी।
कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी।।
धर्मसील कोटिक महँ कोई।
बिषय बिमुख बिराग रत होई।।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई।
सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ।

जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ।
तिन्ह सहस्त्र महुँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी।। ७/५३/१-५

उनकी गणना लम्बी है। हजारों व्यक्ति में कोई एक धर्मात्मा होता है। करोड़ो धर्मात्माओं में कोई एक वैराग्यवान होता है। करोड़ों वैराग्यवानों में कोई एक व्यक्ति ज्ञानी होता है। उन हजारों ज्ञानियों में कोई एक जीवनमुक्त महापुरुष होता है। और हजारों जीवनमुक्त महापुरुषों में कोई एक परम ब्रह्मलीन विज्ञानी होता है। पर उसके बाद सबसे अन्तिम स्थान किसका है ? तो कहा गया कि :—

सब ते सो दुर्लभ सुरसाया।
राम भगति रत गत मद माया।। ७/५३/७

भक्त सबसे दुर्लभ है। संसार में कोई एक व्यक्ति भक्त होता है। वैसे भक्त कहलाना बड़ा सरल भी है। हम लोग न जाने कितने लोगों को, व्यवहार में 'भगत जी' कहकर पुकारते हैं और अपने आपको भी भक्त मानने की भूल, हममें से बहुत लोग करते हैं। वैसे जो भगवान का नाम भी ले रहा है, वह भी प्रभु की दृष्टि में भक्त की श्रेणी में आ गया। पर भक्त तो सचमुच वही है जिसके जीवन में भले ही जाति, पाँति, धन, धर्म, कुल, बड़ाई, बल इत्यादि की दृष्टि में कोई स्थिति न बनती हो, और इनका अभाव हो, पर जिसके जीवन में अनन्यभाव से एक मात्र प्रभु की ही शरणागति है, वही प्रभु को सबसे अधिक प्रिय है।

यहाँ पर संकेत यही था कि यद्यपि प्रभु ब्राह्मण के रूप में हनुमानजी का आदर करते हैं, वार्तालाप करते हैं, फिर भी एक दूरी बनाए हुए हैं। गोस्वामीजी ने लिखा कि जब तीसरी बार हनुमानजी ने प्रणाम किया तो कहा–"महाराज !

नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।।

ता पर मै रघुबीर दोहाई।
जानहुँ नहिं कछु भजन उपाई।। ४/२/२,३

मैं तो यह भी नहीं जानता कि भजन कैसे किया जाता है। मैं तो आपका एक नन्हा बालक हूँ और इतना कहकर जब फिर से प्रणाम करने लगे तो :—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई।

व्याकुल हो गए कि इतने निकट रहने पर भी प्रभु से मिलन, उस रूप में, नहीं हो पा रहा है। दूर रहने पर उनसे मिलन की व्याकुलता स्वाभाविक है, पर सामने खड़े हों और मिलन न हो पा रहा हो ! और यह समस्या तो हम सबकी है। प्रश्न यह है कि संसार में दूसरे व्यक्तियों से मिलने की व्याकुलता क्यों ? और जो इतना निकट है, उससे मिलन क्यों नहीं हो पा रहा है ? तो भई ! हमारे हृदय की व्याकुलता के साथ –साथ सामनेवाले के हृदय में भी यदि व्याकुलता हो तब तो एक दूसरे से मिलने का यत्न करेंगे। हनुमानजी की व्याकुलता इसलिए है कि भगवान इतने निकट होने पर भी एक तटस्थ के रूप में व्यवहार कर रहे हैं। केवल परिचय पूछ रहे हैं। जब व्याकुलता उत्पन्न होती है, तब अन्त में वे एक काम और करते हैः—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई।। ४/२/५

यह 'निज' शब्द भक्तों का सर्वस्व है। इस 'निज' शब्द का, मैं समझता हूँ कि पूरे रामचरितमानस में जितनी बार, जितने रूपों में प्रयोग किया गया है, वह अन्य किसी शब्द का नहीं किया गया है। देखा जाय तो इस 'निज' शब्द का वेदान्त, धर्म और भक्ति तीनों में ही समान महत्व है।

वेदान्त के सन्दर्भ में तो प्रभु स्वयं कहते हैं कि मेरे दर्शन में एक अनोखी बात है। क्योंकि किसी दूसरे के पास जाकर हम उसका दर्शन

करें तो वह प्रसन्न होगा और कुछ न कुछ अवश्य देगा। पर भगवान कहते हैं कि मेरे सन्मुख जब कोई आता है और मेरा दर्शन करता है, तो मैं उसे कुछ नहीं देता। सुनने वाले को आश्चर्य हुआ — महाराज! ऐसा अनोखापन क्यों ? भगवान ने कहा कि अगर मैं दूँ तो दाता बन गया और जीव लेनेवाला बन जायगा। लेनेवाले को यह संकोच रहेगा कि हम छोटे हैं, ये बड़े हैं। और मैं ऐसी स्थिति नहीं आने देता कि जीव को अपने आपको छोटा तथा मुझे बड़ा मानना पड़े।" तब क्या होता है महाराज?" उस समय प्रभु ने इसी शब्द का प्रयोग किया।

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।। ३/३५/६

जीव का जो अपना 'निज रूप' है, उसका उसे अनुभव हो जाता है। मैं बताना चाहता हूँ कि न मुझे देने की आवश्यकता है और न तुम्हें लेने की आवश्यकता है। तत्वतः तुम रंचमात्र भी मुझसे न्यून नहीं हो, तुम अपने इस 'निज स्वरूप' को भूल जाने के कारण ही इस भ्रम में पड़े हुए हो।

वेदान्त का भी यही कथन है कि रूप व्यक्ति पर आरोपित हो गया है। किसी जाति में जन्म हुआ तो मान लिया कि ब्राह्मण है। किसी पद पर बैठा हुआ है तो अपने को पदवाला मान लिया। इसी प्रकार से बहिरंग गुणों के आधार पर व्यक्ति के अनेक परिचय उस पर आरोपित हैं। पर स्वयं उससे पूछा जाय कि अलग–अलग व्यक्ति तुम्हें अलग–अलग रूपों में पुकारते हैं, तुम बताओ कि तुम कौन हो ? तब तो व्यक्ति बड़े चक्कर में पड़ेगा। क्योंकि किसी न किसी जाति, पद, गुण या संबंध के नाते ही उसका नाम लिया जायगा। पर समस्या है कि ये सब तो बाहर से आरोपित है, वस्तुतः उसका 'निजरूप' क्या है ? और वेदान्त का चरम लक्ष्य है कि जीव अपने 'निजरूप' में स्थित हो। यहाँ भगवान ने 'निज' और 'स्व' दोनों को जोड़ दिया। इसका अर्थ है कि हम अपने आपको नहीं पहिचान पा रहे हैं, 'निजरूप' को नहीं

पहिचान पा रहे हैं, इसलिए दरिद्र और दुःखी हो रहे है। और इसका निराकरण बताता हुआ वेदान्त कहता है कि अपने 'स्वरूप' को जानो, अपने 'निजरूप' को जानो। इसी प्रकार से धर्म के सन्दर्भ में भी रामायण और गीता में यह शब्द जोड़ गया।

लक्ष्मणजी ने भगवान श्री राम से पूछा —"महाराज! भक्ति का मार्ग क्या है ?" और तब भगवान ने वहाँ पर भी यही कहा —

प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज धर्म - - - - - - -

धर्म का ही पालन नहीं करना है अपितु 'निजधर्म' को जानो। गीता में इसे 'स्वधर्म' शब्द के रूप में कहा गया—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहा।'

और रामायण में 'निजधर्म' के रूप में प्रतिपादित किया गया। पर वस्तुतः 'स्व' और 'निज' दोनों एक ही हैं।

कबन्ध को भगवान ने जो उपदेश दिया था, उसे पढ़कर कुछ लोग नाक–भौं सिकोड़ते हैं, पर भगवान ने वहाँ पर उपदेश देते हुए जो शब्द कहा था, उसका विशेष उद्देश्य है। कबन्ध से उन्होंने कहा था :—

"सापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।" ३/३३/१

वे कबन्ध से कहते हैं कि ब्राह्मण कैसा भी हो, वह पूज्य है। अब आप विचार करके देखिए कि ऐसी बात पूरे रामायण में प्रभु ने किसी और से क्यों नहीं कही ? उसका सूत्र भी तुलसीदासजी ने 'निज' शब्द के द्वारा ही दिया। जब कबन्ध से भगवान बातचीत कर चुके, तो गोस्वामीजी ने शब्द लिखाः—

"कहि निज धर्म ताहि समुझावा"

कबन्ध से भगवान राम ने कहा कि मैने जो तुम्हें उपदेश दिया है, वह तुम्हारा 'निजधर्म' है। इसका अर्थ है कि वह कबन्ध–जैसे व्यक्तियों के लिए कहा गया है, प्रत्येक पात्र के लिए वह मान्य नहीं है। वस्तुतः भगवान ने यह जो कह दिया कि शाप देने पर भी ब्राह्मण पूज्य है, इसके पीछे भी एक सूत्र है। भगवान जब कबन्ध को गति देने लगे, उससे पूर्व कबन्ध ने भगवान राम की प्रशंसा की। पर घुमाकरके दूसरे की निन्दा भी की। कई लोगों का ऐसा स्वभाव होता है। किसी की प्रशंसा करते हैं, यह तो ठीक है, करनी भी चाहिए, पर वे किसी और से तुलना करते हुए इस ढंग से कहते हैं कि दूसरे की निन्दा भी हो जाय। जैसे कि किसी नए पदाधिकारी के आगमन पर प्रशंसा करते हुए कहा जाय कि 'पहिला तो बड़ा बुरा था, आप बड़े अच्छे आ गए,' वस्तुतः ऐसा कहनेवाला चापलूस है।

कबन्ध ने भगवान से कहा था "– महाराज !

दुरबासा मोहि दीन्ही सापा।
प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा।।" ३/३२/७

दुर्बासा हमारे पुराण के प्रसिद्ध क्रोधी महापुरूष हैं। कहा जाता है कि वे क्रोध में आकर बार–बार शाप दे देते हैं। कबन्ध ने कहा – "महाराज ! दुर्बासाजी ने मुझे शाप दे दिया था।" तात्पर्य है कि वे कितने बड़े क्रोधी हैं और आप कितने बड़े शीलवान हैं। किन्तु भगवान ने कहा – "न !

सापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।" ३/३३/१

प्रभु का संकेत था कि 'दुर्बासा में क्रोध है', यह तो तुमने देख लिया, पर 'तुममें क्या है' यह तुमने नहीं देखा ! तुम यही देखोगे कि 'कौन ब्राह्मण योग्य है, कौन नहीं,' किन्तु यह तो तुम्हारा 'निज धर्म' नहीं है। अगर उन्होंने शाप दे दिया तो तुमने मान लिया कि वे बड़े क्रोधी हैं, पर तुमने अपने जिस अभिमान का प्रदर्शन किया, वह तुम्हें

नहीं दिखाई पड़ा। तुम अपने 'निजधर्म' में आरूढ़ रहो। अपने कर्त्तव्य का पालन करो। तुम यह परीक्षा लेने के अधिकारी नहीं हो कि यह ब्राह्मण है भी या नहीं।

एक सज्जन ने मुझसे किसी के द्वारा पुछवाया कि 'मैंने हनुमान चालीसा बाँटने का संकल्य लिया है, पर उसे किसी अधिकारी व्यक्ति को देना चाहता हूँ। आप मार्ग बताएँ।' मैंने कहा कि अधिकारी ढूँढ़ने के प्रयास में तो किसी परीक्षा की योजना रहेगी, पर प्रश्न यह है कि देनेवाला भी तो सोचे कि वह देने का अधिकारी है या नही ? भगवान राम का उद्‌देश्य तो स्पष्ट दिखाई देता है। क्योंकि कबन्ध के लिए जो उचित है, वह बात वहाँ पर कही गई है। वे शबरी से जाति की महिमा नहीं बताते हैं। उनसे कहते हैं कि मुझे तो भक्त ही प्रिय हैं।

हम स्वयं तो धर्म का पालन करें नहीं और 'अन्य लोग धर्म का पालन कैसे करें,' बस इसी चिन्ता में निमग्न हो जाएँ, तो व्यक्ति के लिए कठिन कार्य हो जायगा। आप किस–किस से धर्म का पालन कराएँगे? कैसे कराएँगे ? इसलिए भगवान 'निजधर्म' की शिक्षा देते हैं। वे लक्ष्मणजी से भी कहते हैं कि हमें अपने गुरूजनों से, श्रेष्ठजनों से पूछना चाहिए कि हमारा 'निजधर्म' क्या है।

अगर आप वेदान्ती है, तो आपको 'निजस्वरूप' में 'निज' की अपेक्षा है। आप धार्मिक हैं, तो 'निजधर्म' की अपेक्षा है। और भक्त का तो सारा केन्द्र ही इस 'निज' शब्द पर है। यह कहा जा सकता है कि भगवान कहाँ हैं ? वे तो सर्वत्र है। भगवान किसके स्वामी हैं ? सबके स्वामी हैं। किन्तु न–न, जब तक भगवान सबके स्वामी हैं, तब तक वे न्याय और कर्म का फल देने वाले भगवान हैं। इसलिए आप यह न कहिए कि वे सबके हैं। आप तो कहिए कि मेरे हैं, ईश्वर को सबके स्थान पर 'निज' बना लेना, यही भक्ति साधना की अपेक्षा है।

भगवान हनुमानजी के स्वामी हैं तो क्या, वे सबके स्वामी नहीं है? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके स्वामी भगवान न हों ? रावण ने पूछ दिया था – "तुमने किसके बल से वाटिका उजाड़ी ?" हनुमानजी मुस्कुराने लगे–"तुमने मुझसे पूछ दिया कि किसके बल से वाटिका

उजाड़ी? और मैं पूछता हूँ कि क्या तुम जानते हो कि तुमने किसके बल से सारे संसार को जीत लिया ?'' हनुमानजी ने कहा –

''जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।

–जिसके बल के लव के लेश से तुमने संसार को जीत लिया, उसी के बल से मैंने वाटिका उजाड़ी। सूत्र यही है कि रावण के पीछे भी अगर बल होगा, तो ईश्वर का ही होगा। ईश्वर अगर सबका स्वामी है, तो वह रावण का भी स्वामी है। रावण कह सकता है कि तुम जो यह कहते हो कि 'हमारे और तुम्हारे पीछे एक ही का बल है', तो फिर हमारे–तुम्हारे बीच में कुछ अन्तर है क्या ? हनुमानजी ने कहा कि बस अन्तर इतनां ही है कि :––

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।।५/२१

–जिन प्रभु के बल से तुमने सारे संसार को जीत लिया, उन प्रभु की ही शक्ति को चुराने की तुमने चेष्टा की ! मानों रावण जैसे कृतघ्न व्यक्ति यही सोचते है कि 'इनसे शक्ति लेकर कार्य करें, इससे अच्छा होगा कि हम स्वयं ही स्वामी बन बैठें', इसलिए वह शक्ति को चुराकर स्वयं शक्ति का स्वामी बनना चाहता है। पर हनुमानजी कहते हैं –– ''तासु दूत'' – मैं उनका पता लगाने के लिए आया हुआ हूँ। इसका अभिप्रायः है कि ईश्वर सबका स्वामी है, सब ईश्वर की सन्तान हैं, पर जिसके हृदय में कृतज्ञता नहीं है, भगवान के प्रति सम्बन्ध की अनुभूति नहीं है, वह भक्त नहीं है। भक्त तो चाहता है कि हम यह कह सकें कि 'भगवान मेरे अपने हैं'। और उसके पश्चात् भगवान भी भक्त को 'निज' बना लें। इसलिए सूत्र के रूप में एक बड़ी अनोखी बात कही गई।

भगवान से पूछा गया कि क्या आप सबको जानते हैं ? तो उन्होंने कहा – ''हाँ ! जिस सन्दर्भ में लोग कहते है, वह ठीक हैं। पर मैं यह भी बता दूँ कि जहाँ तक भक्त का सम्बन्ध है तो :––**मदन्यतते न**

जानन्ति— मेरे भक्त मुझे छोड़कर किसी को नहीं जानते।'' ''तो महाराज। भक्त नहीं जानते पर आप ?'' भगवान कहते हैः– **''नाहं तेम्यो मनागपि** – मैं भी अपने भक्त को छोड़कर किसी को नहीं जानता।'' जब यह स्थिति आ जाय कि भक्त और भगवान एक दूसरे के 'निज' बन जायँ, यही भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है।

हनुमानजी ने इस बार जब प्रणाम किया तोः—

निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई।

'निज तनु' बन्दर–रूप को प्रगट कर दिया। भगवान का मानों संकेत था कि यह दूरी तो तुम्हारी अपनी बनाई हुई है। तुम तो मुझे अत्यन्त प्रिय हो, मेरे अत्यन्त निकट हो, लेकिन तुमने अपने इस ब्राह्मणत्व के आवरण के द्वारा स्वयं ही एक दूरी बना ली।

इस सन्दर्भ में एक बड़ी प्रसिद्ध गाथा है कि किसी व्यक्ति के मन में सन्देह था कि 'ईश्वर हमारे अन्तःकरण में है', इसे हम कैसे प्रमाणिक मानें ? वह एक सन्त के पास गया। महात्मा अन्तःकरण की बात जानने वाले थे। उस जिज्ञासु शिष्य से उन्होंने कहा कि भीतरलोहे की डिब्बी में जो पारस पत्थर रखा हुआ है, उसे ले आओ। अब जिज्ञासु बड़े चक्कर में। भला पारस और लोहा एक साथ ! यदि पारस होगा, तो डिब्बा लोहे का नहीं रह जाएगा, और अगर डिब्बा ज्यों का त्यों लोहे का ही बना रहा, तो फिर पारस असली नहीं होगा। डिब्बा लाया गया, वह तो लोहे का ही था। उसमें एक पत्थर रखा था जो एक पतले से कागज में लिपटा हुआ था। महात्मा ने उस कागज को हटाया और ज्यों ही उस डिब्बे से छुलाया, वह सोने का हो गया। जिज्ञासु को उत्तर मिल गया। इसका अभिप्राय है कि अन्तः करण के लोहे रूपी डिब्बे में ईश्वर रूपी पारस बैठा हुआ है —

लेकिन एक पतला–सा आवरण, जो माया का है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया।

इसी से दूरी बनी हुई है। इसे दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। और अन्त में यही हुआ। हनुमानजी इतने निकट थे, पर मिलन नहीं

हुआ। भगवान का अभिप्राय था कि तुम 'निज' को प्रगट करो तो मैं भी 'निज' को प्रगट करूँगा। तुम ब्राह्मण के रूप में आए तो मैंने भी आदरपूर्वक कह दिया––

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।

पर हनुमानजी ने जैसे ही 'निज तनु' प्रगट किया––

निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई।।

त्यों ही––

तब रघुपति उठाइ उर लावा।

प्रभु ने हनुमानजी को उठाकर ह्रदय से लगा लिया। और प्रभु की ओर से हनुमानजी के 'निज तनु' का उत्तर किस रूप में मिला ? गोस्वामीजी ने तुरंत लिखाः––

निज लोचन जल सींचि जुड़ावा।

प्रभु ने शीतल कर दिया। विरह में वेदना और दूरी है, उसमें एक ज्वाला होती है। इतने निकट होकर भी मानों हनुमानजी व्याकुल हो रहे थे। प्रभु की आँखों से आँसू गिरने लगे। मानों प्रभु ने अपनी आँखों के जल से हनुमानजी को शीतल किया।

भगवान शंकर इस प्रसंग का वर्णन करते हुए गद्‌गद् हो गए। पार्वती ने पूछा –"महाराज ! इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है ?" शंकर जी ने कहा–"पार्वती ! शंकर के रूप में न जाने कितने भक्त मेरा अभिषेक किया ही करते है, पर आज हनुमानजी के रूप में प्रभु के आँसुओं से मेरा जो अभिषेक किया गया, वह तो वर्णनातीत है।" इस प्रकार श्री हनुमानजी शीतल हो गए। प्रभु ने हनुमानजी से कहा कि हनुमान ! जब तुमने 'मंद' कह कर परिचय दिया, तो मुझे लगा कि लक्षण तो पवनपुत्र का है। पर पवन में तो और भी दो गुण होते है –– शीतलता और सुगन्ध।

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।

किन्तु तुमने मंद ही कहा, शीतल और सुगंध की बात नहीं कही? हनुमानजी ने चरण पकड़ लिए और कहा – "प्रभु ! मन्दता मेरा जन्मजात गुण है, पर अब जब आपने अपनी आँखों का जल देकर शीतल बना दिया, तब शीतलता आ गई। और जब आपने अपने हृदय से लगा लिया, तो जो सुगंध आई, वह तो आपकी ही है, आपके गुण, आपके शील की सुगन्ध है। इसलिए श्री हनुमानजी जहाँ भी जाते हैं, वहाँ शीतल कर देते हैं और सुगन्ध से भर देते हैं।

लंका में जनकनन्दिनी व्याकुल हैं। निरन्तर आँसू बहाते रहने पर भी उनकी विरह–वेदना शान्त नहीं हो रही है। किन्तु माँ ने स्वीकार किया:–

तोहि देखि सीतल भई छाती।

हनुमान ! तुम्हें देखकर मेरा हृदय शीतल हो गया। हनुमान जी ने कहा – "माँ ! यह शीतलता मेरी नहीं, हमारे प्रभु के हृदय की है।" वायु से जो सुगन्ध आती है, वह फूल की याद दिलाती है। हनुमानजी भी जहाँ जाते हैं, वहाँ अपनी याद दिलाने का उनका स्वभाव नहीं है।

विभीषणजी को उन्होंने हृदय से लगाया तो विभीषणजी ने पूछा–

"की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई।"

xx xx

"की तुम्ह राम दीन अनुरागी।"

क्या आप स्वयं भगवान राम तो नहीं है ? वस्तुतः हनुमानजी में भगवान राम की सुगंध तथा प्रभु की प्रीति की शीतलता है। श्री भरत जी को श्री हनुमानजी ने प्रभु का सन्देश सुनाया। हनुमानजी ने श्री भरत जी से कहा – "महाराज ! प्रभु आ रहे है।" पर जब श्री भरतजी ने हनुमानजी को हृदय से लगाया, तो कह दिया —

"कपि तव दरस सकल दुख बीते।"

हनुमान ! तुम्हारे दर्शन से मेरा समस्त दुःख समाप्त हो गया। "महाराज ! आपने यह कह दिया कि सब दुःख समाप्त हो गया, किन्तु अभी तो मैंने मात्र प्रभु का सन्देश ही दिया है, जब वे आएँगे, आपको हृदय से लगाएँगे, तब न सब दुःख समाप्त होंगे !" भरत ने कहा – "हनुमान! जब मैंने तुम्हें हृदय से लगाया, तो सचमुच मेरे सब दुःख समाप्त हो गए क्योंकि मुझे ऐसा लगा कि:––

कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते।। ७/१/११

मैं प्रभु को छोड़कर किसी अन्य से नहीं मिल रहा हूँ।"

वस्तुतः प्रभु के सामने बहुत बड़ा संकट था। चौदह वर्ष से पहले आएँ तो प्रतिज्ञा टूटती है। और अन्तिम क्षणों में आएँ तो भयभीत हैं, कि भरत चिन्ता में कही प्राण न छोड़ दें। क्योंकि श्री भरत प्रतीक्षा कर रहे हैं कि अवश्य ही कोई समाचार लेकर आवेगा। लेकिन अभी तक तो निषादराज से समाचार नहीं मिला है। इसलिए वे सोच रहे थे––

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा।।
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। ७/०/१-२

प्रभु को डर था कि विलम्ब होने से भरत प्राण छोंड़ देंगे। उन्होंने हनुमान जी से कहा – "हनुमान ! तुम चले जाओ और मेरा सन्देश सुनाओ।" प्रभु का उद्देश्य केवल सन्देश तक ही नहीं था। उन्होंने सोचा – चलो कोई बात नहीं, इसी तरह से हम भी जरा छिपकर भरत को देख लें, हृदय से लगा लें। प्रभु एक रूप में तो पुष्पक विमान में बैठे हैं और दूसरी ओर वे ही तो हनुमानजी के हृदय में निवास करते हैं।

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानधन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम - - - - - - ।।१/१७

इसलिए सचमुच श्री हनुमानजी के मिलन से वही सुख मिलता है, जो श्री राम के मिलन से।

भगवान श्री राम ने सोचा –मैंने अपने भक्त से इस तरह कठोरता का व्यवहार किया। मैं अपरचित बनकर प्रश्न करता रहा। इसलिए आगे चलकर लगे क्षमायाचना करने। अन्त में श्री हनुमानजी की जीत हो गई।

हनुमानजी से प्रभु ने पूछा था "–ब्राह्मण देवता ! अपनी कथा सुनाओ," तो हनुमानजी को सबसे पहले अपना नाम बताना चाहिए था। भरतजी से तो बता दिया था। वर्णन आता है कि जब भरतजी ने पूछा – "आप कौन हैं ?", तो उन्होंने यही कहा कि मैं पवनपुत्र हूँ और मेरा नाम हनुमान है।

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना ।

पर भगवान श्री राम को नहीं बताया। प्रभु से तो यही कहा कि–

"एक मंद मैं मोह बस" – उनका तात्पर्य यह था कि मैं क्यों नाम बताऊँ ? अगर आपको मेरी याद होगी, तो आप स्वयं नाम लेंगे। और सचमुच आज प्रभु ने बिना बताए ही, श्री हनुमानजी का नाम ले लिया।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।। ४/३

प्रभु ने जब 'हनुमान' कहकर पुकारा तो हनुमान जी गद्‌गद् हो गए –मुझे भ्रम था कि ये भूल गए है, पर नहीं–नहीं, इनको तो मेरा नाम ठीक–ठीक याद था। प्रभु ने कहा – "हनुमान ! तुम यह मत समझो कि तुम्हें मैं कम मानता हूँ।

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।। ४/२/७

तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो।" यह कुछ विचित्र–सी बात हो गई। क्योंकि प्रभु तो व्यवहार तथा वाणी–रचना में बड़े कुशल हैं।

वे हनुमानजी की चाहे जितनी प्रशंसा करते पर क्या यह आवश्यक था कि लक्ष्मण जी से तुलना करके, उन्हें दूना प्रिय बता दें ?

इस सन्दर्भ में मैं एक बड़े प्रसिद्ध वक्ता को जानता हूँ जो इस प्रसंग में कहते थे कि इसके बाद लक्ष्मणजी ने हनुमानजी से बोलना ही बन्द कर दिया। रामायण भर में फिर कहीं बोले ही नहीं। उनकी खोज ही तो थी। केवल कथा की ही कथा नहीं होती। कथा में भी न जाने कितनी आन्तरिक कथाएँ छिपी रहती है। यद्यपि कई लोगों को लगता था कि ठीक ही कह रहे होंगे। किन्तु वास्तविकता यह है कि कहते समय वक्ता न लक्ष्मणजी को देख रहा था और न ही हनुमान जी को। वह तो केवल अपने आपको ही देख रहा था। जैसे उनके सामने दूसरे की प्रशंसा कर दी जाय, तो बुरा मान जाते, उन्हें लगा कि वैसे ही लक्ष्मणजी को भी जरूर बुरा लगा होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः लक्ष्मणजी और हनुमानजी दोनो ही भक्ति के परमाचार्य हैं। गोस्वामी जी चार नाम लेते हुए कहते हैं किः——

'जानिअ हनुमान, हर, लखन, भरत भगति गति'

वैसे तो अनेक भक्त हैं पर भक्ति की समग्रता का रहस्य तो श्री हनुमानजी, शंकरजी, लक्ष्मणजी तथा भरतजी, ये चार ही जानते हैं। वस्तुतः श्री हनुमानजी और लक्ष्मणजी में तो प्रगाढ़ प्रीति है। बोलना ही सब कुछ नहीं है। वैसे हमें आपको न जाने कितने ऐसे लोगों से बोलना पड़ता है जिनसे बोलने का मन नहीं होता। और यहाँ तो दोनों ही गद्‌गद हैं। इस शब्द के बाद तो श्री लक्ष्मणजी के मन में श्री हनुमान जी के प्रति प्रेम तथा श्री हनुमानजी के मन में श्री लक्ष्मणजी के प्रति श्रद्धा का उदय हुआ। दोनों ही प्रभु से स्वामि, सखा, पितु, मातु, गुरु का नाता मानते हैं। पर प्रभु ने जब दूना कह दिया, तो लक्ष्मणजी का स्वभाव यदि हम लोगों जैसा होता, तो वे प्रणाम करके चले जाते कि ठीक है, अब आपको मुझसे दूने मिल गए हैं, अब मेरी क्या आवश्यकता है ? मैं चौदह वर्षों से पत्नी, माँ तथा परिवार को त्याग कर, आपकी सेवा कर रहा हूँ और ये अभी—अभी मिले और दूने हो गए ! आपका

गणित तो बड़ा विचित्र है। पर लक्ष्मणजी तो इतने आनंदित हैं कि क्या कहें ! और हनुमान जी को अहंकार हो सकता था कि मैं लक्ष्मण से दूना हूँ। पर उनका भाव भी बड़ा दिव्य है।

एक दिन हनुमानजी से प्रभु ने पूछा–"जब मैंने तुम्हें लक्ष्मण से दूना बताया, तो तुम्हें कैसा लगा ?" हनुमानजी ने कहा – "प्रभु ! यह वाक्य कहकर तो आपने लक्ष्मण जी का परिचय दिया था।" भगवान ने कहा– "मैंने तुम्हारी प्रशंसा की थी या उनका परिचय दिया था? बोले–"नहीं महाराज ! आपकी वचन रचना तो अनूठी होती है। आप तो –

'जयति बचन रचना अति नागर' है।

आपके समान वचन–रचना में कोई कुशल नहीं है। जब आपसे मेरा मिलन हुआ तो आपको लगा होगा कि इसका लक्ष्मण से भी तो परिचय करा दें।" वैसे प्रशंसा की पद्धति यह है कि संसार में जब किसी की प्रशंसा की जाती है तो :––

प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।

या ––

भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू।

की तरह ही 'प्राण–प्रिय' शब्द कहा जाता है।–"इसलिए आप भी कह सकते थे कि हनुमान ! तुम तो मुझे प्राण की तरह प्रिय हो। पर जब आपने ऐसा न कहकर यह शब्द कहा कि 'लक्ष्मण से दूने प्रिय हो,' तो मैं समझ गया कि लक्ष्मण तो आपके प्राण है। आप और लक्ष्मण में इतनी अभिन्नता है, इसीलिए आप लक्ष्मणजी के सामने ऐसा कहते हैं। वस्तुतः आप दोनों में अत्यन्त एकत्व है, प्रेम है। यह मेरी प्रशंसी नहीं अपितु लक्ष्मणजी की सच्चीं महिमा का परिचय है। इस महिमा से मैं अपने आपको कृतार्थ अनुभव करता हूँ।"

रामचरितमानस में एक बात आप यह पाएँगे कि भगवान श्री राम को प्रसन्न करना सरल है, पर श्री लक्ष्मणजी का मापदण्ड बड़ा कठोर

है। वे सरलता से किसी को भीतर पैठने नहीं देते। वे अपने प्रभु का स्वभाव जानते हैं कि प्रभु भोले–भाले हैं; कोई ठग आदि भीतर न पैठ जाय, इसलिए बड़ी कड़ाई से जाँच करते हैं। वे किसी को नहीं छोडते– न जनकजी को, न दशरथजी को और न भरतजी को। जनकजी ने यदि कोई बात कह दी तो भरी सभा में भी उन्हें फटकारने में कोई संकोच नहीं करते।

कही जनक जस अनुचित बानी।

गंगा किनारे सुमन्तजी ने जब कहा कि महाराज श्री दशरथ ने कहा है कि रथ में बैठाकर चार दिन बन में घुमाकर वापस ले आना, तो वे क्रुद्ध हो गए और सुमन्त से कहा कि जब पिता जी ने श्री रामभद्र को वन दिया, तो मैंने सोचा कि पिताजी सत्यनिष्ठ हैं। धर्म के लिए उन्होंने त्याग कर दिया है, हम क्यों आलोचना करें ? इसलिए उनके द्वारा श्री राम को वनवास दिए जाने पर मैने उन्हें धर्मात्मा समझा। और यदि उन्होंने श्री रामभद्र को रोक लिया होता, तो मैं उन्हें भक्त मानता, जो धर्म की चिन्ता किए बिना अपने प्रेम और भक्ति में निष्ठ है। पर आज आपकी बात सुनकर समझ गया कि वे न तो धर्मात्मा हैं और न ही प्रेमी। बिना चार दिन घुमाए क्या उनका धर्म पूरा नहीं होगा ? जब लक्ष्मणजी ने महाराज श्री दशरथ की आलोचना की, तब प्रभु तो घबरा गए। उन्होंने सुमन्तजी से कहा कि आपको मेरी शपथ है, जो कुछ लक्ष्मण ने कहा है, वह आप पिताजी से बिल्कुल मत कहिएगा।

'लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई।।'

यह तो लक्ष्मण का लड़कपन है। छोटे बच्चे जो बोलते हैं, उसको कोई महत्व थोड़े ही दिया जाता है। पर सुमन्तजी बड़े अनोखे निकले। उनसे जब महराज दशरथ ने पूछा कि राम ने क्या कहा था, तो उन्होंने बता दिया। और जब पूछा –'लक्ष्मण ने क्या कहा था ?' तो कहने लगे कि लक्ष्मण ने तो बहुत कुछ कहा था, पर मैं नहीं बताऊँगा। क्योंकिः–

कहबि न तात लखन लरिकाई।। २/१५१/८

श्री राम ने शपथ देकर मुझे रोका है। सुमन्तजी का व्यवहार बड़ा विचित्र है ! क्योंकि यदि नहीं बताना था, तो चुप रहते। पर यह बता रहे हैं कि 'उन्होंने बताने से रोका है'। वस्तुतः सुमन्तजी बड़े चतुर हैं। वे यह जानते थे कि इस बात से महाराज प्रसन्न होंगे। क्योंकि प्रेम की रीति अनोखी है। अपने प्रति लक्ष्मणजी की कटुक्ति की बात सुन, दशरथजी हृदय में भावुक हो गए। मन में एक आश्वासन मिला – अरे! जब राम के विरूद्ध लक्ष्मण मुझे भी क्षमा नहीं कर सकता, तो वन में यदि राम के विरूद्ध कोई कुछ करेगा, तब उसे तो लक्ष्मण विनष्ट ही कर देगा। यह तो बड़ी अच्छी बात है। इसीलिए मानों जानबूझकर सुमन्तजी ने इस प्रसंग का वर्णन आवश्यक समझा।

श्री राम के विरुद्ध होने की कल्पना मात्र से ही श्री लक्ष्मण, श्रीभरतजी को भी कसौटी पर कस देते हैं, उन पर भी बिगड़ खड़े होते हैं।

इस यात्रा के अन्त में श्री किशोरीजी ने श्री हनुमानजी को आशीर्वाद दिया।

करहिं बहुत रघुनायक छोहू।

किन्तु जब रावण–वध हो गया और प्रभु ने हनुमानजी से कहा– "जाकर, श्री सीताजी को सन्देश सुना दो कि मेरी विजय हो गई है", तब हनुमानजी गए तथा जाकर सन्देश सुनाया। सुनकर सीताजी ने कहा कि मेरे पास जो था, मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया था।

होहु तात बलसील निधाना।।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।। ५/१६/२,३

तो अब क्या दूँ ? अब तो केवल एक वस्तु रह गई है, आज वही दे रही हूँ। आप जानते हैं उस समय माँ ने हनुमानजी को क्या दिया? माँ ने कहा :—

"सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदयँ बसहुँ हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ, - - - - - - - - -"

यह सब तो वे पहले भी कह चुकी थीं। इसमें नयापन क्या है ? किन्तु माँ ने एक शब्द और जोड़ दियाः—

"सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत।।" ६/१०७

लक्ष्मण भी तुम्हारे अनुकूल रहें। मानों यह सबसे कठिन वरदान भी मिल गया। क्योंकि भगवान श्री राम की अनुकूलता तो सरल है, पर श्री लक्ष्मणजी की अनुकूलता कठिन है। गोस्वामीजी इसीलिए वन्दना प्रसंग में कहते है।

बंदउँ लछिमन पद जलजाता।
सीतल सुभग भगत सुखदाता।।
रघुपति कीरति बिमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका।।
सेष सहस्त्रसीस जग कारन।
जो अवतरेउ भूमि भय टारन।।
सदा सो सानुकूल रह मो पर। १/१६/८

हे श्री लक्ष्मणजी ! आप सदा मेरे अनकूल रहें। श्री लक्ष्मणजी का मापदण्ड कठोरतम है। वह इसलिए कि हमारे प्रभु के स्वभाव का कोई अनुचित लाभ न ले सके। यह उनके स्वभाव की प्रीति का पक्ष है।

अकेले में प्रभु ने श्री लक्ष्मणजी से पूछा – "लक्ष्मण ! तुम्हारे सामने ही मैंने हनुमान को तुमसे दूना कह दिया, तुम्हें कैसा लगा ?" उन्होंने कहा – "प्रभु ! वैसे तो आपके द्वारा की गई प्रशंसा के वाक्यों को मैं ज्यादा महत्व नहीं देता, क्योंकि आप अत्यन्त भोले हैं। आप कब, किसकी, क्या प्रशंसा कर दें, यह नहीं कहा जा सकता। पर आज आपने श्री हनुमानजी की प्रशंसा ही नहीं की, अपितु मैं तो यही कहूँगा कि यदि

आपने सही–सही तौल कहीं की है, तो बस आज ही। सचमुच वे हर प्रकार मुझसे दूने हैं।''

लक्ष्मणजी भी श्री राम को स्वामी मानते हैं और हनुमानजी भी। पर एक अन्तर है। लक्ष्मणजी प्रभु में ही केवल प्रभु को देखते हैं, वे प्रभु से कहते भी हैं।

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।२/७१/४
मोरें सबइ एक तुम स्वामी। २/७१/६

मैं गुरु, पिता – माता किसी को भी नहीं जानता, मेरे स्वामी तो एकमात्र आप हैं। पर हनुमानजी को जो आपने दीक्षा दी, वह मेरे लिए असम्भव है।

हनुमानजी से प्रभु ने कहा था कि तुम मेरे सेवक हो पर मेरे सेवक की परीक्षा एक ही है –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।। ४/३

'यह सारा संसार ही मेरे प्रभु का रूप है', ऐसा मानकर मेरी सेवा करना। लक्ष्मण जी ने कहा – ''प्रभु ! मैं तो आपमें ही आप को देख पाया। पर हनुमानजी ने सम्पूर्ण विश्व में आपको देखा, वह विलक्षणता मुझमें नहीं है।''

सचमुच हनुमानजी अनन्य भक्त है'। और यह अनन्यता बड़ी कठिन है। यद्यपि लक्ष्मणजी भी अनन्य भक्त हैं, पर उनकी अनन्यता दूसरे प्रकार की है। एक व्यक्ति के रूप में ईश्वर की सेवा करना सरल है, पर सारे संसार में भगवान को देखना, उसकी सेवा करना बड़ा कठिन है।

लक्ष्मणजी का तात्पर्य है कि अनेक वर्षो तक मैं माँ के पास रहा, पर उनके हरण का कारण मैं बना। माँ के मन में मेरे प्रति संशय उत्पन्न हो गया:––

मरम बचन जब सीता बोला।

और अन्त में माँ का हरण हो गया पर उसे मिटाने का कार्य हनुमान जी ने किया। मैंने आपके और माँ के बीच दूरी बना दी, किन्तु हनुमान जी ने उन्हें मिला दिया इसलिए वे दूने तो हैं ही। इतना निकट रहकर भी मेरे प्रति माँ को सन्देह हो गया। और हनुमान जी का माँ से परिचय भी नहीं था, पर एक दिन में ही माँ का विश्वास जीत कर, आशीर्वाद लेकर आ गए। उनकी तुलना में मैं भला कहाँ हूँ ? वे सचमुच हर प्रकार से मुझसे दूने हैं। भक्ति, सेवा और श्रद्धा सबमें। चाहे किसी भी दृष्टि से देख सकते हैं। और सचमुच यह बात तत्काल ही साकार हो गई। लिखा हुआ है कि हनुमानजी ने दोनों से प्रार्थना की कि आप मेरी पीठ पर बैठ जाएँ।

एहि बिधि सकल कथा समुझाई।
लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई।। ४/३/५

प्रभु ने हंसकर लक्ष्मणजी की ओर देखा –– विलम्ब मत करो, बैठ जाओ। दोनों बैठ गए। आप जानते ही हैं कि अलग–अलग पीठों के अलग–अलग नाम होते हैं– द्वारिकापीठ, जगन्नाथपीठ या शक्तिपीठ आदि। पर हमारे प्रभु किस पीठ पर बैठते हैं ? यह कह लीजिए कि ये तो हनुमानपीठ के आचार्य हैं। लक्ष्मणजी ने कहा – "प्रभु। आपने दूना कहा और इन्होंने दिखा भी दिया। क्योंकि मैं आज तक शेष के रूप में आपको उठा रहा था, लेकिन जब इन्होंने हम दोनो को उठा लिया, तब दूनापन तो सार्थक हो ही गया।" इसके बाद की चर्चा कल करेंगे।

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय ।।

(श्री रामः शरणं मम)

(७)

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।। २/१३०

आपके समक्ष कल चर्चा चल रही थी कि यह दोहा श्री लक्ष्मणजी तथा श्री हनुमानजी के चरित्र में समग्र रूप सें चरितार्थ होता है। और दोनों के ही चरित्र बड़े विलक्षण हैं। पूछा जा सकता है कि श्री हनुमानजी का प्रभु से क्या नाता है ? इसका उत्तर यही है कि प्रभु ही उनके स्वामी हैं, गुरु हैं, माता–पिता और सखा हैं। श्री लक्ष्मणजी की भी स्थिति यही है। उनकी भी दृढ धारणा यही है किः——

मोरे सबहिं एक तुम स्वामी।

पर श्री हनुमानजी में एक विशेष विलक्षणता है जो हम लोगों के लिए बड़े काम की है।

प्रश्न यंह है कि अगर हम भगवान से सीधे नाता न जोड़ सकें, तो फिर क्या कोई उपाय है ? इसका उत्तर यही है कि अगर सीधे प्रभु से नाता न जुड़ सके, तो हनुमानजी महाराज से नाता जोड़ लें। वे केवल अपना नाता ही भगवान से नहीं जोड़ते, अपितु दूसरों का भी सम्बन्ध प्रभु से जोड़ने में उनकी जो भूमिका है, वह किसी अन्य पात्र की नहीं।

हनुमानजी का प्रिय काम है–दूसरों का प्रभु से सम्बन्ध कराना। उनके चरित्र में आदि से अन्त तक आप यही पावेंगे। कल कथा के अंत में जो चर्चा चल रही थी, उसका भी उद्देश्य यही है।

श्री हनुमानजी के साथ प्रभु की प्रथम झाँकी वह है जिसमें वे–

'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'

के रूप में दोनों भाइयों को पीठ पर बैठा लेते हैं। और एक झाँकी तब है जब उत्तरकाण्ड में प्रभु की लीला का समापन होने जा रहा है। दोनो ही झाँकियों में महान सूत्र विद्यमान हैं। इस झाँकी में, वे कथा सुनाकर दोनों लोगों को पीठ पर बैठा लेते हैं। और वहाँ भगवान श्री राम अयोध्या की वाटिका में बैठे हुए हैं। प्रभु अत्यन्त थके हुए हैं। संसार के समस्त जीवों का श्रम दूर करने के लिए ही प्रभु ने अवतार लिया है। किन्तु दूसरों का श्रम दूर करनेवाले प्रभु स्वयं श्रमित हो गए। गोस्वामी जी ने लिखा ––

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई।
गए जहाँ सीतल अवँराई।। ७/४६/५

श्रमित प्रभु अपने परिकरों के साथ शीतल अवँराई में जाते हैं। वह झाँकी बड़ी अद्‌भुत है। वहाँ स्वर्ण सिंहासन नहीं है, छत्र नहीं है। श्री भरत ने जो दुपट्‌टा ओढ़ रखा था, उसे बिछा दिया। प्रभु उस पर समासीन हो गए। लक्ष्मण, शत्रुघ्न उनकी सेवा में सन्लग्न हैं। हनुमानजी के शरीर में रोमांच हो रहा है, आँखों में आँसू हैं और वे प्रभु को पंखा झल रहे हैं :––

भरत दीन्ह निज बसन डसाई।
बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई।।
मारुत सुत तब मारुत करई।।
पुलक बपुष लोचन जल भरई।। ७/४६/७

हनुमानजी के दो चित्र हैं। पहला चित्र वह है, जिसमें हनुमान जी की पीठ पर भगवान श्री राम और श्री लक्ष्मण दोनों विराजमान हैं। अंतिम वह है, जहाँ पर श्री हनुमानजी प्रभु को पंखा झल रहे हैं। श्री हनुमानजी प्रभु के सेवक हैं, पर उनमें अन्य सेवकों की अपेक्षा एक विलक्षणता है। भगवान श्री राम ने श्री लक्ष्मण से कहा – "तुम

अयोध्या रुक जाओ, माता–पिता और प्रजा की सेवा करो।" किन्तु श्री लक्ष्मणजी ने कहा–"प्रभु ! मेरे लिए यह संभव नहीं है।" साथ–साथ लक्ष्मणजी ने एक बात और भी कह दी जिससे प्रभु को चुप हो जाना पड़ा। नियम यह है कि छोटे को बड़े की आज्ञा का पालन करना चाहिए। बड़े का भारवहनकरने में सहयोग करना चाहिए। प्रभु का तात्पर्य था कि मैं वन जा रहा हूँ, अतः तुम यहाँ रहकर मेरा भार हल्का करो।

लक्ष्मणजी ने कहा–"हाँ प्रभु ! छोटे का कर्त्तव्य है कि वह बड़े का भार हल्का करे, लेकिन पहले यह भी तो निर्णय हो जाना चाहिए कि छोटा भी कितना छोटा है। महाराज ! क्या नन्हें–से चार– पाँच वर्ष के शिशु से कभी माता–पिता यह कहेंगे कि तुम हमारा बोझ हल्का करो? वह तो यही कहेगा कि मैं बोझ हल्का करने की स्थिति में नहीं हूँ बल्कि आप को ही मेरा बोझ उठाना पड़ेगा।" सचमुच, माँ–बाप को ही उस शिशु का बोझ उठाना पड़ता है। लक्ष्मण जी ने शब्द बहुत सुन्दर चुना। उन्होंने कहा –"महाराज ! आपने उपदेश बहुत सुन्दर दिया, पर आप यह भी तो सोच लीजिए कि लक्ष्मण कितनी अवस्था का है। यदि आप यह सोच रहे हों कि यहाँ का भार कौन उठाएगा ? तो चिन्ता मत कीजिए।" उनका संकेत श्रीभरत जी की ओर था। हमारे बड़े भाई आ रहे हैं, वे सारा भार उठा लेंगे। उनका वाक्य यही हैः——

नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी।। २/७१/२

भरतजी के लिए ऐसी पंक्तियाँ अन्यत्र भी कही गई हैं।

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुरि धरनि धरत को।। २/२३२/१

लक्ष्मणजी ने कहा –– "धर्म की धुरी को जो धारण करने वाले हैं, वे ही आपके इस उपदेश के अधिकारी है।" प्रभु ने जानना चाहा–"और तुम ?" उन्होंने कहा–"प्रभु !

''मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।''

–मैं तो आपके स्नेह के द्वारा पालित छोटा शिशु हूँ। फिर पलटकर उन्होंने प्रभु से ही पूछ दिया कि महाराज ! क्या हंस से कोई आशा करता है कि वह मन्दराचल पर्वत को उठा ले ?

मंदरु मेरु कि लेहिं मराला।।

मैं बोझ उठाने की स्थिति में नहीं हूँ। मैं नहीं जानता कि कौन माता है, पिता है, गुरू है।

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।२/७१/४
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। २/७१/६

मेरे तो गुरु, माता–पिता तथा स्वामी सब कुछ आप ही हैं। मैं और कुछ जानता ही नहीं। लक्ष्मणजी के वाक्यों को प्रभु काट नहीं सके। क्योंकि लक्ष्मणजी को यह प्रमाण–पत्र प्रभु के द्वारा ही मिला हुआ है।

परशुराम–लक्ष्मण–संवाद प्रसंग में भगवान श्री राम से परशुराम जी कहते हैं कि तुम तो बड़े सज्जन जान पड़ते हो, पर तुम्हारा छोटा भाई बड़ा खोटा है, यह कैसे बोलता है ! प्रभु ने कहा – ''महाराज ! यह तो बालक है।'' परशुरामजी को बड़ा बुरा लगा क्योंकि इनसे कम लम्बा–चौड़ा तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा हैं और कह रहे हैं, बालक है। प्रभु का शब्द था – महाराज !

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं।

परशुरामजी ने व्यंग्य से कहा –''अच्छा ! तो यह बालक है। अब जरा यह भी बता दो कि कितने वर्ष का है तुम्हारा यह बालक ?'' प्रभु ने इस पर जो प्रमाण–पत्र दिया, वह बड़ा अद्भुत है। प्रभु ने कहा–

''नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख - - - - - - -''

यह तो 'दुधमुहाँ' बालक है। अर्थात् अत्यन्त छोटा है। समस्या यह है कि बालक पहले दुधमुहाँ होता है, फिर धीरे–धीरे बड़ा होता है, पर लक्ष्मणजी जीवन भर दुधमुहें ही रहे। बालक जब बड़ा होता है, तो उसे लगता है कि दूध के साथ कुछ और भी चाहिए, तब शरीर का पोषण होगा। पर दुधमुहें बालक का पोषण केवल दूध से होता है। भगवान का तात्पर्य है कि लक्ष्मण को छोड़कर और जो भक्त है, उनमें अन्य जो सद्‌गुण हैं, उनके द्वारा उनकी शोभा बढ़ती है। लेकिन लक्ष्मण मेरा दुधमुहां बालक है। इसका अर्थ है कि एकमात्र कृपा के दूध को छोड़कर यह जीवन में कभी कुछ और माँगता ही नहीं, कुछ चाहता ही नहीं। इसलिए प्रभु को यह कहने का साहस ही नहीं हुआ कि तुम रुक जाओ, और श्री लक्ष्मणजी छुट्‌टी पा गए।

हनुमानजी से प्रभु ने स्वामी और सेवक की जो व्याख्या की, वह एकदम भिन्न थी। प्रभु ने कहा –– ''सारे संसार में मैं निवास करता हूँ , इस रूप में मुझे स्वामी मानकर, सारे संसार की सेवा ही, मेरी सेवा है। श्री हनुमानजी ने लक्ष्मणजी सहित प्रभु को धारण कर लिया इसमें मानों संकेत यह है कि श्री लक्ष्मणजी प्रभु के सेवक हैं और श्री हनुमानजी प्रभु और प्रभु के सेवक दोनों की सेवा करते है। प्रभु और प्रभु के सेवकों का बोझ हल्का करना, श्री हनुमानजी का स्वभाव है। अन्तिम झाँकी में भी यही कहा गया। यह कह लीजिए कि रामायण की समाप्ति की गई श्री हनुमानजी की प्रशंसा से।

श्री हनुमानजी की सेवा का कार्य कुछ निश्चित नहीं है। प्रभु की सेवा में सबके लिए अलग–अलग कार्य बटे हुए हैं। पर हनुमानजी के लिए कोई एक निश्चित सेवा कार्य न होकर उनका क्रम परिवर्तित होता रहनेवाला है। वैसे प्रभु जब रात में विश्राम की मुद्रा में होते थे, तब लक्ष्मणजी उनका चरण दबाते थे।

चापत चरन लख उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ।। १/२२५/७

किन्तु जब हनुमानजी ने श्री लक्ष्मण और प्रभु दोनों को पीठ पर उठा लिया, तो लक्ष्मणजी को लगा कि मैं तो चरण–श्रमित होने के बाद,

थकान मिटाने की चेष्टा करता था, पर हनुमानजी तो महान हैं जिन्होंने पीठ पर उठाकर ऐसा उपाय निकाल लिया कि जिससे प्रभु को श्रम ही न हो। श्रम तो चलने से ही होगा पर हनुमानजी ने कहा कि अब आप दोनों को चलने की आवश्यकता नहीं है।

प्रभु का चरण देखकर प्रत्येक भक्त को लगता है कि बड़े कोमल हैं। पृथ्वी पर चलने में इन्हें बड़ा कष्ट हो रहा होगा। पर इस कष्ट को दूर करने का क्या उपाय है ? हनुमानजी इसीलिए जान–बूझकर पशु–रूप बना कर आए हैं। उन्होंने सोचा कि अगर मनुष्य बनकर सेवा में जाएँगे तो यदि सभ्य व्यक्ति है, तो मनुष्य को मनुष्य से सेवा लेने में कुछ संकोच तो होता ही है। यद्यपि संसार में सेवक तो संकोची बहुत दिखाई देते हैं, और होना भी चाहिए, पर भगवान राम के लिए तो लिखा हुआ है कि :––

कहुँ न राम सम स्वामि संकोची।

श्री राम से बढ़कर संकोची स्वामी कोई नहीं मिलेगा। ऐसी स्थिति में हनुमानजी ने सोचा, यदि मनुष्य बनकर जाऊँगा, तो मनुष्य, मनुष्य की सेवा एक सीमा तक ही स्वीकार करेगा। पर बानर–रूप धारणकरने के पीछे संकेत था कि प्रभु आप घोड़े की पीठ पर बैठते हैं या नहीं, तो आज मेरी पीठ पर ही सही, मैं भी तो पशु हूँ। प्रभु ने हनुमानजी का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार कर लिया।

भगवान राम जनकपुर में घोड़े की पीठ पर बैठे और आज हनुमानजी की पीठ पर। एक घोड़ा, दूसरा बन्दर। दोनों ही बड़े चंचल। यह घोड़ा कौनहै ? इसका परिचय देते हुए गोस्वामीजी बताते हैं कि :––

''जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिजु''

काम ही मानों घोड़ा बनकर दूल्हे को धारण कर रहा है। यहाँ हनुमानजी वानर रूप में हैं, पर वस्तुतः वे कामारि भगवान शंकर के अवतार हैं और बाल ब्रह्मचारी हैं। इस तरह भगवान राम, काम की पीठ

पर बैठ गए और कामारि की पीठ पर भी बैठ गए। किसी ने भगवान राम से कहा–"महाराज! सचमुच, यह तो अंधाधुन्ध दरबार है। क्योंकि 'काम की पीठ पर भी' और 'कामारि की पीठ पर भी', लगता है, आपके लिए दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है।" प्रभु ने कहा – "दोनों में लक्ष्य तो एक ही है। वहाँ जब काम के घोड़े पर बैठे थे तो लक्ष्य था–सीताजी को पाने का। और आज जो सीताजी खो गई हैं, उन्हें पाने के लिए हमें इनकी पीठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा।" इस तरह से हनुमानजी सेवक और स्वामी दोनों की सेवा करते हैं। इनके लिए प्रभु के द्वाराः––

'तुम्ह मम प्रिय लछिमन ते दूना।'

कहा जाना स्तुति नहीं, यथार्थ है।

पूरी रामायण में हनुमानजी के द्वारा हर तरह की सेवा सम्पन्न होती है। वे सर्वोत्कृष्ट कथावाचक भी बन जाते हैं। इसके लिए वे विप्ररूप धारण कर लेते हैं। वे जब युद्ध करते हैं, तो क्षत्रिय भी बन जाते है। तुलसीदास जी से पूछा गया – "इतने क्षत्री थे, उनमें सबसे बड़ा क्षत्री कौन था ?" तुलसीदासजी ने कहा– "मेरी दृष्टि में तो '––

'पवन को पूत रजपूत रूरो।'

सबसे बड़े और सच्चे राजपूत तो हनुमान जी हैं। वे जैसा युद्ध करते हैं, वैसा कोई क्या करेगा !"

हनुमानजी वैश्य भी बन जाते है। लोग व्यापार करते हुए ऋण देते हैं कि पैसा ब्याजसहित मिले। हनुमानजी का तो प्रभु से ही व्यापार–व्यवहार हुआ। प्रभु ने हनुमानजी से कहा – "हनुमान ! मैं तुम्हें लिख करके देना चाहता हूँ।"–"क्या ?". बोले –

"**देबे को न कछू ऋनिया हौं**" – मेरे पास तुम्हारी सेवा का बदला चुकाने के लिए कुछ नहीं है, अतः अब तो एक ही उपाय हैः––

"**धनिक तू पत्र लिखाउ**' – तुम पत्र लिखवा लो कि मैं तुम्हारा ऋृणी हूँ। भगवान ने एक और मीठी बात यह कही कि 'मैं यह चाहता भी नहीं कि मेरे ऊपर जो तुम्हारा ऋृण है, वह मिटे। क्योंकि तुमने संकट में मेरी रक्षा की, तो ऋृण तो तभी चुकेगा, जब तुम संकट में पड़ो और

मैं रक्षा करूँ। किन्तु मैं ऐसा क्यों चाहूँ कि तुम पर संकट आए'। इसलिए इनसे बड़ा ऋण दाता वैश्य भला कौन होगा, जिनके लिए स्वयं प्रभु कहें कि:—

सुनु सुत तोहि उरिन मै नाहीं।

और हनुमानजी से बढ़कर शूद्र भी कोई नहीं है। शूद्र का धर्म सेवा कहा जाता है। और कौन सी ऐसी सेवा है जो हनुमानजी नहीं करते? दूत वे बन जायँ, कथा वे सुना लें, सवारी वे बन जायँ और न जाने कितने अनगिनत कार्य हैं जो श्री हनुमानजी के द्वारा समपन्न होते हैं। इसलिए जाम्बुवानजी ने तो हनुमानजी के लिए यह वाक्य ही कह दिया कि:—

कवन सो काज कठिन जग माहीं।
जो नहीं होइ तात तुम्ह पाहीं।। ४/२६/५

जो अन्य किसी पात्र के लिए नहीं कहा गया लेकिन हनुमानजी के लिए कहा गया कि ऐसा कोई कार्य ही नहीं है जो श्री हनुमान जी न कर सकें। ऐसी अद्‌भुत सेवाएँ है उनकी ! अन्तिम झाँकी में भी वही सूत्र विद्यमान है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु श्रमित हो गए। प्रश्न यह है कि संसार में जीव का श्रम प्रभु दूर करते हैं, पर जब प्रभु श्रमित होते हैं, तो उनका श्रम दूर करनेवाला कौन है ? और इस झाँकी में श्रम दूर करनेवाले तीन भक्तों का नाम है। श्री भरतजी, श्री लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी। गोस्वामीजी कहते है:—

भरत दीन्ह निज बसन डसाई।
बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई।। ७/४६/६

हनुमानजी का प्रिय कार्य है–प्रभु का चरण दबाना।

बड़ भागी अंगद हनुमाना।
चरन कमल चापत बिधि नाना।। ६/१०/७

पर इस झाँकी में लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी चरण दबाते हैं। प्रभु ने पूछा– "हनुमान ! तुम इस समय कौन सी सेवा करोगे ?" उस समय वे चरण दबाने का कार्य नहीं लेते। उन्होंने कहा–" महाराज ! मैं तो पंखा झलूँगा।"

मारुतसुत तब मारुत करई।

सुनकर आश्चर्य हुआ–यह क्या ? चरण दबाने में चरण गोदी में रहता, पर पंखा झलने में तो दूर हट गए। किन्तु हनुमानजी की भावना यही थी कि 'चरण दबाऊँगा तो केवल प्रभु का श्रम दूर होगा, पर पंखा झलने में प्रभु का श्रम तो दूर होगा ही, साथ–साथ उनकी सेवा करने वालों का भी श्रम दूर होगा।' भक्त और भगवान,स्वामी और सेवक सबकी समान रूप से सेवा होगी। पार्वतीजी ने भगवान शंकर से कहा कि इस झाँकी में प्रभु के चार प्रमुख भक्त और सेवक एक साथ बैठे हुए है। और आज आपको निर्णय देना है कि इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ? गोस्वामी जी ने उस झाँकी का वर्णन करते हुए लिखाः––

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई।
गए जहाँ सीतल अवँराई।।
भरत दीन्ह निज बसन डसाई।
बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई।।
मारुत सुत तब मारुत करई।
पुलक बपुष लोचन जल भरई।। ७/४६/७

अन्त में भगवान शंकर ने निर्णय देते हुए कहा –– "पार्वती !

हनुमान सम नहिं बड़भागी।
नहिं कोउ राम चरन अनुरागी।। ७/४६/८

श्री हनुमानजी के समान श्री रामभद्र के चरणों का अनुरागी कोई नहीं है। क्योंकि :––

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई।

बार बार प्रभु निज मुख गाई।। ७/४६/६

अब मैं क्या कथा कहूँ। वस्तुतः श्री हनुमानजी की सबसे बड़ी प्रशंसा यही है कि जिन प्रभु की प्रशंसा संसार के सारे भक्तगण करते हैं, वे प्रभु श्री हनुमानजी का गुणगान करते हैं। मानस की इन पंक्तियों में श्री हनुमानजी की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है। और वे श्री हनुमानजी महाराज स्वयं नाता जोड़करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते।

कुछ लोगों का स्वभाव आपने देखा होगा कि वे विवाह कराने की कला में बड़े निपुण होते हैं। वे पता लगाते रहते हैं कि कहाँ वर है, कहाँ कन्या है, और कैसे सम्बन्ध हो सकता है। तथा कुछ लोग बिगाड़ने की कला में भी बड़े निपुण होते हैं। हनुमानजी जोड़ने की कला में बड़े निपुण हैं। प्रभु से उनका सम्बन्ध बना और जोड़ने का क्रम प्रारम्भ हो गया। कहने लगे – "महाराज ! पीठ पर बैठ कर चलिए तथा सुग्रीव को मित्र बना लीजिए।" प्रभु तो उनकी बात टाल नहीं सकते। बैठ गए। जब सुग्रीवजी ने श्री हनुमानजी की पीठ पर भगवान श्री राम को बैठे हुए देखा, तो गोस्वामी जी ने लिखा –

जब सुग्रीवँ राम कहुँ देखा।
अतिसय जन्म धन्य करि लेखा।। ४/३/६

सुग्रीवजी को लगा कि आज मेरा जीवन धन्य हो गया। सुग्रीव अभी कुछ समय पूर्व अलग से भगवान राम को देखकर भयभीत हो रहे थे, किन्तु हनुमानजी की पीठ पर बैठे देख अत्यन्त प्रसन्न हुए। मन ही मन ब्रह्मा से प्रश्न करने लगे –

कपि कर मन बिचार एहि रीती।
करिहहिं बिधि मो सन ए प्रीती।। ४/३/८

हे ब्रह्माजी ! क्या यह हो सकता है कि इनसे मेरा सम्बन्ध हो जाय? मुझसे प्रीति हो जाय ? क्योंकि मुझमें तो कोई योग्यता है नहीं। किन्तु हनुमानजी ने इसे पूरा कर दिया। भगवान ने सुग्रीव से पूछ दिया –

"कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव।"

मित्र ! तुम वन में निवास क्यों कर रहे हो ? सुग्रीव ने अपनी कथा सुनाई। इससे पूर्व के कथाक्रम में लक्ष्मणजी ने कथा सुनाई थी–

लछिमन राम चरित सब भाषा।

यह स्वाभाविक था क्योंकि श्री लक्ष्मण जी भगवान राम का चरित्र ही तो सुनाएँगे। और श्री हनुमानजी यदि सुग्रीव का चरित्र सुनाते तो यह भी उतना ही स्वाभाविक लगता। पर उनकी भूमिका लक्ष्मणजी से दूनी ही है। उन्होंने केवल सुग्रीव की ही कथा नहीं सुनाई, अपितु वर्णन आता है कि:—

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।

सुग्रीव की कथा भगवान राम को और भगवान राम की कथा सुग्रीवजी को सुनाई। बस यही विशेषता और अन्तर है। हनुमानजी की भूमिका एक पक्षीय नहीं है। उत्तरप्रदेश में विवाह–सम्बन्ध करानेवालों को "अगुवा" कहते हैं, जिनका परिचय वर तथा वधू दोनों पक्षों से रहता है। हनुमानजी की यही भूमिका है। लक्ष्मणजी वर पक्षीय (एक पक्षीय) है, इसलिए

लछिमन राम चरित सब भाषा।

वे केवल भगवान राम की ही कथा सुनाते हैं। पर हनुमानजी दोनों की कथा सुनाते हैं। वैसे हनुमानजी को भगवान राम की कथा सुनाने का क्या अधिकार है ? क्योंकि अभी–अभी परिचय हुआ है और लगे कथा सुनाने। हाँ ! लक्ष्मणजी तो भगवान राम के साथ–साथ रहते हैं, 'वे कथा सुनाएँ,' यह तो ठीक लगता है। पर हनुमानजी के द्वारा प्रभु की कथा सुनाना, यह तो कुछ विचित्र सी बात लगती है। पर नहीं–नहीं, दूर रहने के बाद भी कितना निकट रहा जा सकता है, यह हनुमानजी के चरित्र में दिखाई देता है। प्रत्येक कथावाचक की अपनी अलग शैली होती है।

कोई ज्ञानप्रधान कथा कहता है, कोई विनोदप्रधान, तो कोई चरित्रप्रधान। रामायण में भी अलग–अलग भक्तों की अलग–अलग शैली है। लक्ष्मणजी प्रभु के स्वभाव को जानते हैं। उन्हें लगता है कि सारे कष्टों की जड़ प्रभु का स्वभाव ही है। प्रभु इतने सीधे, भोले और सरल हैं कि बस कष्ट ले लिया करते है। इसलिए वे प्रभु के प्रभाव की कथा सुनाते हैं। उनका आचार्यत्व प्रभु के प्रभाव वर्णन का है।

उनके लिए उपाधि यही दी गई:––

कहि न सकत कछु अति गंभीरा।
प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा।। १/५२/२

लक्ष्मणजी प्रभु का प्रभाव जानने वाले हैं इसलिए जब सतीजी ने भ्रमवश श्री सीताजी का वेष बनाया, तो लक्ष्मणजी समझ गए, पर वे मौन हैं। क्योंकि प्रभु का प्रभाव जानते है। वे जब बोलते हैं, तो प्रभु के प्रभाव का वर्णन करते हैं। उनका भाषण साधारण भाषण न होकर प्रभु के प्रभाव का ही परिचायक होता है।

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।। १/२५३/१

जब वे कहते हैं कि :––

तोरौं छत्रक दंड जिमि तब प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ।। १/२५३

प्रभावपक्ष की व्याख्या लक्ष्मणजी से बढ़कर और कौन कर सकता है ? पर जब स्वभाव–वर्णन की बात आती है, तो कह देते हैं–"बस अब इसे रहने भी दीजिए।"

जब श्री भरत चित्रकूट की ओर आ रहे थे, उस समय लक्ष्मणजी बड़े उग्र रूप में कहते है:–

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।।

तैसेहिं भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता।। २/२२६/७

और वे युद्ध के लिए पूरी तरह से प्रस्तुत हो गए। प्रभु ने देखा और थोड़ा–सा मुस्कुराए। लक्ष्मणजी ने कहा – "प्रभु। शायद आप यह सोच रहे होंगे कि आपसे बिना पूछे, मैं यह क्यों बोल रहा हूँ ? तो मैं यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि यद्यपि मैं आपकी महिमा को जानता हूँ कि :––

तुम सर्बग्य सिरोमनि स्वामी।

आप संसार के स्वामी है, सर्वज्ञ हैं फिर भी इस समय मुझे जो उचित लग रहा है ,वह कहा रहा हूँ।

आपनि समुझि कहउँ अनुगामी।।

प्रश्न यह है कि जब श्री लक्ष्मणजी जानते है कि श्री राम सर्वज्ञ हैं, तो फिर उनसे श्री भरत के सन्दर्भ में पूछ क्यों नहीं लेते ? पर लक्ष्मणजी का तात्पर्य है कि मैने इसलिए नहीं पूछा, क्योंकि मुझे पता है कि आप क्या कहेंगे। आप तो यही कहेंगे कि 'भरत बड़े सज्जन हैं।' प्रभु ने चुप्पी साध ली। क्योंकि वे सचमुच यही कहने वाले थे। आगे चलकर प्रभु ने कहा भी यही। लक्ष्मणजी से पूछा"– क्या तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं है ?" उन्होंने कहा–"नहीं महाराज ! ऐसी बात नहीं है, पर मैने इसलिए कहा, क्योंकि मैं आपके स्वभाव को जानता हूँ :–

नाथ सहृद सुठि सरल चित सील-सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान।। २/२२७

आप इतने सरल, शीलवान तथा सहृदय हैं कि सबको अपने समान ही देखते हैं। मेरे पूछने पर आप कहेंगे कि भरत तो ठीक मेरी तरह ही हैं, अतः बिना आपसे पूछे मैं जो ठीक समझता हूँ ,वही कहूँगा।" और जब लक्ष्मणजी ने भरतजी की कटु आलोचना की, तो देवता भयभीत हो गए। वे सोचने लगे कि श्री राम वन इसलिए आए हैं, क्योंकि आगे

चलकर रावण से युद्ध होना है, यदि कहीं लक्ष्मणजी ने यहाँ युद्ध छेड़ दिया तो क्या होगा ? इसलिए उन्होंने आकाश से कहा कि आप प्रभु का प्रभाव जानते हैं, पर आपका प्रभाव भी साधारण नहीं है।

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा।
को कहि सकइ को जाननिहारा।। २/२३०/२

आप तो साक्षात् शेष हैं। सृष्टि के प्रलय की क्षमता आपमें है। और फिर धीरे से कह दियाः—

अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ।।
सहसा करि पाछें पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।। २/२३०/३,४

श्री लक्ष्मण में अभिमान का लेश भी नहीं है। वे इतने कोमल भी है कि ज्योंही यह सुना, संकोच लगा कि भाई भरत के लिए मैंने जो कुछ कहा, कहीं वह अनुचित तो नहीं ? अब प्रभु को अवसर मिला। और भगवान श्रीराम तथा श्री सीताजी ने लक्ष्मण को बड़े सन्मान के साथ बीच में बैठा लिया।

राम सीयँ सादर सनमाने। २/२३०/५

और कहा कि जो तुमने कहा, वह नीति की दृष्टि से बिल्कुल ठीक है।

कही तात तुम्ह नीति सुहाई। २/२३०/६

पर भरत के विषय में यह बात ठीक नहीं घटती।

प्रभु ने पूछा – "लक्ष्मण ! तुमने मुझे तो बोलने नहीं दिया, पर जब देवताओं ने कहा कि भरत अच्छे हैं, तो विश्वास कर लिया। तो क्या तुम देवताओं को मुझसे ज्यादा ज्ञाता मानते हो ?" लक्ष्मण ने कहा–"प्रभु ! मैं जानता हूँ कि आप इतने भोले हैं कि आपको अच्छे–बुरे की परख नहीं है। पर ये देवता पक्के स्वार्थी–व्यापारी है। ये अगर परख

नहीं करेंगे तब तो इनका सारा व्यापार ही चौपट हो जायगा। इसलिए जब ये कह रहे है तो श्री भरत अवश्य अच्छे होंगे।''

लक्ष्मणजी का अभिप्राय है कि प्रभु का स्वभाव आवश्यकंता से कुछ अधिक ही कोमल है, इसलिए बार–बार उनको टोकना पड़ता है। समुद्र के किनारे प्रभु विभीषणजी की बात मानकर अनशन को प्रस्तुत हो गए। प्रभु ने विभीषण से कहा–

''सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
करिअ दैव जौं होइ सहाई।।'' ५/५०/१

किन्तु लक्ष्मणजी को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने तुरत कहा–

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा।।
नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा।।
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा।। ५/५०/४

''–महाराज ! क्रोध प्रगट कीजिए, इस समय स्वभाव प्रगट करने की आवश्यकता नहीं है।'' वे तो स्वभाव को जानते हुए भी केवल प्रभाव को मानते हैं और प्रभाव को ही प्रगट करते हैं।

श्री भरतजी प्रभु के स्वभाव के पक्षधर है। वे इसका दावा भी करते हैं––

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।

मैं जैसा प्रभु का स्वभाव जानता हूँ, वैसा अन्य कोई नहीं जानता। मानों एक प्रभाव का आचार्य है, तो दूसरा स्वभाव का। पर श्री हनुमान जी दोनों के समान रूप से आचार्य हैं। इसलिए प्रभु इन्हें प्रमाण–पत्र दे दे देते हैं:––

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।

प्रभु जिसे सबसे बड़ा प्रमाण–पत्र देते हैं, उससे यही कहते है कि तुम तो मेरा स्वभाव जानते हो। इसका अभिप्राय है कि प्रभाव को दूर से भी सुनकर जाना जा सकता है, किन्तु स्वभाव तो निकटस्थ ही जान सकता है।

यहाँ पर संकेत यह है कि जब लक्ष्मणजी प्रभु का चरित्र सुनाएँगे तो कहेगे कि हमारे प्रभु कितने महान शक्तिशाली हैं, कैसे उन्होंने धनुष तोड़ा, कैसे बड़े–बड़े राक्षसों का संहार किया ? उनकी कथा इसी प्रकार की तो होगी। पर गोस्वामीजी कहते है कि श्री हनुमानजी, की कथाशैली दूसरी है। वे स्वभाव की भी कथा सुनाते हैं और प्रभाव की भी। श्री हनुमानजी से कोई पूछ दे कि स्वभाव महत्वपूर्ण है या प्रभाव ? तो हनुमानजी कहते है कि भई ! समस्या यह है कि दोनों के बिना कल्याण नहीं होगा। इसलिए दोनों की ही आवश्यकता है।

श्री हनुमानजी की कथा में तीन बातों का समावेश होता है –– अभाव, स्वभाव और प्रभाव। जीव को पहले अपने अभाव का अनुभव हो, कमी का अनुभव हो। हनुमानजी की कथाशैली यही है। जब वे जीव में 'अभाव' का अनुभव हुआ देखते हैं, तो प्रभु का 'प्रभाव' सुनाते हैं। यद्यपि प्रभाव सुनकर जीव में आदर तो बढ़ता है, पर डर यह लगता है कि क्या प्रभु मुझे कृपापात्र मानेंगे ? और तब हनुमानजी तुरंत स्वभाव सुना देते हैं कि हमारे प्रभु का स्वभाव कितना उदार है। मानों पहले अभाव की कथा, पर भई ! वह कथा क्या होती है, वह तो जीव की व्यथा है।

हनुमानजी से जब प्रभु ने पूछा कि ब्राह्मण देवता ! अपनी कथा सुनाओ, तो हनुमानजी कहने लगे कि मैं मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल हृदय हूँ और अज्ञानी हूँ। बाद में प्रभु ने कह–''हनुमान ! मैंने कहा था कथा सुनाओ, पर तुम तो व्यथा सुनाने लगे।''हनुमान जी ने कहा – ''महाराज ! जीव की कथा उसकी व्यथा ही है। और वह कथा पूरी तब होगी, जब आप जीव की व्यथा सुन लें और जीव आपकी कथा सुन लें।''

लक्ष्मणजी ने अपनी कथा में बताया कि प्रभु कितने वीर हैं, अतुलित शक्तिशाली हैं। किन्तु सुग्रीव के जीवन में तो•कायरता और पलायन ही भरा हुआ है। सुनकर वे सोचने लगे–मेरा क्या होगा ? मेरी इनसे मित्रता कैसे होगी ? इसलिए श्री हनुमानजी ने अपनी शैली से कथा सुनाते हुए कहा – "प्रभु ! आपका प्रभाव निसंदेह अद्‌भुत और अमित है, पर आपको भी सुग्रीव की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी आवश्यकता सुग्रीव को आपकी है।" और तब हनुमानजी ने जो कहा, उसकी नकल करके, गोस्वामी जी ने विनय–पत्रिका में ठीक वैसी ही बात लिखी।

एक दिन गोस्वामीजी भगवान राम की सभा में गए और बड़े ध्यान से चारों और देखने लगे। प्रभु ने पूछा – "आए मेरे पास, पर चारों ओर ध्यान से क्या देख रहे हो ?" बोले–"महाराज ! मैं आपका एक नाम सुनकर आया था ,अतः ध्यान से देख रहा हूँ। क्योंकि कथा में मैंने कहीं सुन लिया कि आप 'पतित–पावन' है। इसलिए मैने सोचा कि देखूँ–इस सभा में कितने पतित बैठे हुए है ; तब न हम मानें कि आप 'पतित–पावन' हैं। और यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि यहाँ तो एक भी पतित बैठा हुआ नहीं दिखा।" भगवान ने पूछा —"तो फिर लौटने का विचार है क्या ?" उन्होंने कहा – "नहीं महाराज ! सोचता हूँ कि यदि आप अपनी सभा में मुझे रख लें, तो आपकी कमी पूरी हो जाएगी। क्योंकि :—

मैं हरि पतित पावन सुने।

आपसे कोई पूछ दे कि आप 'पतित–पावन कैसे हैं'—

तो आप किसी को दिखला नहीं सकते। क्या आप भरतजी की ओर दिखाएँगे या लक्ष्मणजी या हनुमानजी की ओर कि ये पतित हैं ? इसलिए आप मुझे शरण में ले लीजिए और जब कोई पूछे कि आप 'पतित–पावन' कैसे हैं ? तो तुरंत मुझे दिखा दीजिएगा कि मैंने तुलसीदास जैसे पतित को पावन किया है इसलिए पतित–पावन हूँ।

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने।।
(विनय पत्रिका-१६०/१)

सचमुच प्रभु क्या सुन्दर जोड़ी है, हमारी–आपकी।''

हनुमानजी ने तुरंत भगवान श्री राम से कहा – ''प्रभु ! आपका नाम 'दीन बन्धु' है'' पर उस नाम की सार्थकता तो तब है जब आप किसी 'दीन को बन्धु बना लें।' और सुग्रीव से बढ़कर कोई दीन होगा नहीं। इसलिए —

दीन जानि तेहि अभय करीजे।

दीन जानकर जब इसे अभय बना देंगे, तभी आपका 'दीन बंधु' नाम सार्थक होगा।'' उन्होंने दोनों पक्षों की कथा सुनाई और अन्त में :—

पावक सारवी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।

प्रीति के एक दिव्य बन्धन में दोनों को बाँध दिया। उसके पश्चात् बालि का बध हो गया। सुग्रीव को राज्य भी मिल गया। पर वे चार महीने तक प्रभु से मिलने नहीं आए। और तब प्रभु ने पहले क्रोध का अभिनय किया, पर जब लक्ष्मण जी ने कहा कि मैं जाकर ले आता हूँ, तो प्रभु ने उनसे कहा —

''भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।''

लक्ष्मणजी ने सोचा, डर दिखाने का तो एक ही उपाय है। उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ा लिया और इसे देखकर सुग्रीव डर के मारे दौड़े आए। सुग्रीव के आने के बहुत समय बाद प्रभु ने कहा –''लक्ष्मण ! उस समय तुमने सुग्रीव को लाकर बहुत बड़ा काम किया, पर जरा यह तो बताओ कि तुमने उसे भय कैसे दिखाया ? बाण देखकर सुग्रीव की क्या दशा हुई, वह कितना डरा ?'' लक्ष्मण जी ने कहा –''महाराज ! यह काम मुझे कहाँ करने को मिला ?'' – ''क्यों क्या हुआ ?''

उन्होंने कहा–"महाराज ! जिन्हें आपने दूना कहा था, वह कार्य तो उन्होंने पहले ही पूरा कर दिया था।" प्रभु को आश्चर्य हुआ – उन्होंने कैसे कर दिया ? लक्ष्मण जी बोले – "प्रभु। जो कार्य मेरा बाण करता, वह केवल उनकी वाणी ने कर डाला। मेरे बाण की तो आवश्यकता ही नहीं पड़ी।" यही हुआ भी।

कथा आती है कि जब हनुमानजी ने देखा कि सुग्रीव प्रभु को भूल गए और लक्ष्मण जी धनुष पर वाण चढ़ाकर आ रहे हैं तो:––

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा।।
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। ४/१८/१-२

हनुमानजी तो बड़े अद्‌भुत हैं। उन्होंने सुग्रीव के निकट जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और कहा–"महाराज ! आज मैं आपको कथा सुनाने आया हूँ।" "हाँ–हाँ जरूर सुनाइए। आप तो बड़ी सुन्दर कथा सुनाते हैं।" पर आज वे स्वभाव की कथा न सुनाकर प्रभाव की कथा सुनाते हैं। उन्होंने कहा कि आपने देखा, प्रभु ने जिस बाण से बालि का बध किया था, वह बाण कहाँ गया ? वह बाण क्या बालि के हृदय में ही रह गया ?' सुग्रीव बोले नहीं–"नहीं, मैंने देखा कि वह बाण बालि के हृदय से निकल कर प्रभु के तरकश में ही आ गया।" फिर सुग्रीव ने उत्सुक होकर पूछ दिया –"क्या इसका अर्थ आपने समझा ?" हनुमान ने कहा–"महाराज ! मुझे तो लगता है कि प्रभु ने इसीलिए इस बाण को रख छोड़ा है कि अगर सुग्रीव ने कभी कोई वैसी ही चेष्टा की, तो इस बाण से उसे भी मारेंगे।" और उस कथा का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि लक्ष्मणजी बाण लेकर भय दिखाने आए थे, पर यहाँ तो पहिले से ही सुग्रीव डर गए –

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना।

इतने में लक्ष्मणजी भी आ गए। सुग्रीवजी यह भी जानते हैं कि लक्ष्मणजी को हनुमानजी ही समझा सकते है, इसलिए उन्होंने कहा–

''सुनु हनुमंत संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा।।'' ४/१६/३

तुम किसी प्रकार से श्री लक्ष्मणजी को समझाओ। और ज्योंही श्री लक्ष्मणजी ने हनुमानजी को देखा तो भूल गए कि सुग्रीव को डराने आए थे। क्योंकि श्री हनुमानजी कथा सुनाने लगे और वे सुनने लगे।

तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना।। ४/१६/४

वर्णन करने लगे कि प्रभु कितने दयालु हैं, कितने उदार हैं। लक्ष्मण जी सब सुनते हैं, और सुनते–सुनते अपना उद्‌देश्य भी भूल गए। तब श्री हनुमानजी उनको महल में ले आएः––

करि बिनती मंदिर लै आए।
चरन परवारि पलँग बैठाए।।४।१६।५

उनका चरंण धो दिया – महाराज ! आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा! फिर पलंग पर बैठा दिया। आश्चर्य होता है, पंलग पर ? पलंग तो सोनेवालों के लिए होता हैं। जो लक्ष्मण कभी सोते नहीं, उनको बैठाने के लिए बाघम्बर बिछा देते, मृगचर्म बिछा देते या कुश का आसन बिछा देते। लक्ष्मणजी तो हनुमानजी की बात टाल नहीं सके। बैठ गए पलंग पर, किन्तु संकेत से पूछा ''मुझे भी सुलाने की योजना है क्या?'' हनुमान जी बोले–''महाराज ! जीव भले ही कितनी भी गहरी नींद में सोने क्यों न जा रहा हो, पर यदि उसके सोने के कमरे में सर्प दिख जाय, तो क्या उसे नींद आएगी ? इसी प्रकार महाराज ! आज जब सहस्त्रशीर्ष शेष भगवान पलंग पर बैठ गए तब सुग्रीव नहीं सोएगा।'' इस प्रकार हनुमानजी जीवों को भगवान श्री राम से मिलाते हैं। जीवों के कल्याण के लिए सतत् कार्यरत रहते हैं। उनकी सेवा भावना अद्वितीय है। ऐसा सेवक तथा भगवान श्री रामभद्र जैसा स्वामी संसार में कौन होगा ? इसके बाद की चर्चा कल करेंगे।

।। बोलिए सियावर रामचन्द की जय ।।

(श्री रामः शरणं मम)

(८)

श्री हनुमानजी के स्वामी भी प्रभु हैं, सखा भी प्रभु है, यद्यपि हनुमानजी यह सखा–पद नहीं लेना चाहते वे संकोच, सेवा और निरहंकारिता की मूर्ति हैं वे तो दूसरों को ही प्रभु का सखा बनाने में रूचि लेते हैं। इस सन्दर्भ में यह बात की गई थी कि श्री हनुमानजी प्रभु से कहते हैं कि आप सुग्रीव को अपना मित्र बना लें। और प्रभु उस प्रस्ताव को स्वीकार कर उन्हें सखा का सन्मान देते हैं।

श्री हनुमानजी इतना उत्कृष्ट कार्य सम्पन्न कर लंका से वापस लौटे हैं। किन्तु वे अत्यन्त संकोची हैं, अतः स्वभावतः सबसे पीछे हैं। पर जब प्रभु और जाम्बुवान का मिलन हुआ तो उन्होंने कहा :–

''प्रभु कीं कृपा भयउ सबु काजू।
जन्म हमार सुफल भा आजू।।'' ५/२६/४

प्रभु ! आपकी कृपा से सारा कार्य पूरा हुआ। और हम सबका जन्म सुफल हुआ। और साथ–साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि प्रभु ! आपकी कृपा को वस्तुतः जिन्होंने प्रगट किया, वे श्री हनुमानजी ही उस कृपा के उपयुक्त माध्यम हैं। उन्होंने लंका में जो कार्य किए हैं, यदि हजारों मुख से उसका वर्णन किया जाय तो भी पूरा वर्णन सम्भव नहीं हो सकता।

नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी।
सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी।। ५/२६/५

यह वाक्य सुनते ही प्रभु श्री हनुमानजी का चरित्र सुनने के लिए व्यग्र हो गए। और तब जाम्बुवानजी ने हनुमानजी की कथा सुनाई। सुनकर प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हो गए। तथा दोनों की स्थिति एक अनोखे रूप में सामने आई। भगवान श्री राम हनुमानजी को देख रहे हैं पर स्नेह में जिस तरह से एकटक देखा जाता है, उस तरह नहीं। अपितुः––

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता।

प्रभु देखते हैं, नीची दृष्टि कर लेते हैं, थोड़ी देर बाद फिर देखते हैं। और उस समय प्रभु की दशा क्या है, इसका वर्णन करते हुए तुलसी दासजी कहते हैंः––

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता।
लोचन नीर पुलक अति गाता।। ५/३१/८

प्रभु के शरीर में रोमान्च है, आँखों में आँसू हैं। वैसे भक्त लोग भगवान का चरित्र सुनकर पुलकित होते हैं, आँखों में आँसू आ जाते हैं, पर आज तो प्रभु ही श्री हनुमानजी की गाथा सुनकर अपने आपको उसी स्थिति में पाते हैं। पर प्रश्न यह है कि प्रभु यह जो बार–बार देखते हैं, इसकी क्या आवश्यकता है ? वे तो उन्हें एकटक ही देख सकते हैं। और इसका संकेत आगे चलकर मिलता है। क्योंकि आज उन्होंने हनुमानजी को पुत्र कहकर पुकारा। यद्यपि इससे पूर्व प्रभु ने उन्हें सेवक तो स्वीकार किया था, पर 'पुत्र' शब्द से सम्बोधित नहीं किया था। पर आज भगवान श्री राम ने :––

सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।

'पुत्र' कहा। और उसी में 'पुनि–पुनि' की व्याख्या छिपी हुई थी। सारे शास्त्रों में यह लिखा हुआ है, तथा माना भी यही जाता है, कि पुत्र पर पिता का ऋृण होता है। प्रभु का अभिप्राय था कि तुम ऐसे पुत्र हो, जिसका ऋृण पिता पर है। तुम नहीं, मैं तुम्हारा ऋृणी हूँ। इसलिए प्रभु कहते हैः––

"सनमुख होइ न सकत मन मोरा ।।"

सीधा–सा तात्पर्य यह हैं कि जिसके प्रति व्यक्ति में संकोच होता है, उससे आँखें नहीं मिला पाता। प्रभु को बार–बार ध्यान आता है कि हनुमान तो मेरे धनी हैं, मैं ऋृणी हूँ, कैसे दृष्टि मिलाऊँ ? इसलिए स्नेह होने पर भी आँखे मिलाकर बात करने में प्रभु संकोच का अनुभव करते हैं। इस सन्दर्भ में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा आती है।

जगन्नाथपुरी में एक व्यक्ति को कुष्ठ का रोग था। वह नित्य नियम से भगवान का दर्शन करने जाता था। किन्तु उसे नित्य यह दिखाई देता था कि भगवान ने उसे देखकर अपना मुख घुमा लिया है। वह सोंचता था – मेरे पाप भी ऐसे हैं, जिनके कारण यह रोग हुआ है, इसलिए भगवान भी मेरी ओर देखना नहीं चाहते। एक दिन उसे स्वप्न हुआ कि यदि तुम मुझसे निवेदन करो तो तुम्हारा कुष्ठ रोग दूर हो सकता है। उसने सोचा–यद्यपि है तो स्वप्न पर फिर भी प्रार्थना कर लूँ। और अगले दिन, जब उसने प्रणाम करके निवेदन किया, तो सचमुच उसका कुष्ठ रोग दूर हो गया। और साथ ही उसे यह भी देखकर आश्चर्य हुआ कि 'उस दिन भगवान ने मुख नहीं घुमाया'। उससे रहा नहीं गया। उसने भगवान से पूछा – "महाराज ! आज तक आप मेरी ओर देखते तक नहीं थे, पर आज क्या हो गया ? भगवान ने कहा–"भई ! तुम आते तो थे पर इतना बड़ा रोग होने पर भी कुछ माँगते नहीं थे। इसलिए तुम्हारे निष्काम प्रणाम से मैं स्वयं को इतना अधिक संकोच में और ऋृणी अनुभव करता था कि तुमसे दृष्टि मिलाने का साहस नहीं कर सकता था। किन्तु आज तुम्हारे कुछ माँग लेने पर लगा कि मैं आँखें मिला सकता हूँ।"

गोस्वामीजी विनय–पत्रिका में कहते हैः––

"त्यौं न राम सुकृतग्य जे" -

वे कृतज्ञ ही नहीं सुकृतज्ञ हैं। और सुकृतज्ञ भी इतने है कि :––

"सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ।" (विनय-पत्रिका १७०/५)

एक बार कोई उनको प्रणाम कर दे, तो वे उसके कृतज्ञ हो जाते हैं। और फिर श्री हनुमानजी के सेवाकार्य इतने अधिक हैं इसलिए प्रभु कहते हैं– "हनुमान !

सनमुख होइ न सकत मन मोरा।

भगवान श्री राम ने हनुमानजी की भूरि–भूरि प्रशंसा की। हनुमानजी ने उस प्रशंसा को सुना। और सुनते ही :—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल - - - - - -

और गिरने के साथ जोर से पुकारा :—

"त्राहि त्राहि भगवंत।" ५/३२

प्रभु ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।

पढ़कर आश्चर्य होता है – लंका में इतने युद्ध लड़े पर कहीं भी ये शब्द (रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए) हनुमानजी के मुख से नहीं निकले। पर आज जब मित्रों से घिरे हैं, भगवान सामने हैं, कोई आक्रमण करनेवाला दिखाई नहीं दे रहा है, तब प्रभु से कह रहे हैं कि आप रक्षा कीजिए ! रक्षा कीजिए। किसी ने हनुमानजी से पूछ दिया कि आपका कोई कार्य बिना उद्देश्य के होता नहीं। इसलिए यह बताइए कि आज आपकी दृष्टि प्रभु के मुख की ओर कैसे चली गई ? और आज आपने रक्षा की याचना क्यों की ? हनुमानजी ने कहा कि जब प्रभु ने प्रशंसा की तो मुझे नारद जी की याद आ गई। नारदजी भी जब काम विजय करके लौटे तो प्रभु उनकी प्रशंसा करने लगे। उस समय नारदजी से एक भूल हो गई। उन्होंने प्रशंसा के शब्द तो सुने, पर प्रशंसा करनेवाले के मुख की ओर नहीं देखा। और यह बहुत आवश्यक है। 'शब्द तो कोई कुछ भी कह सकता है। पर शब्द के पीछे कहनेवाले का भाव क्या है', यह उसकी आकृति को कोई गहराई से देखे, तो समझ लेगा।

नारदजी ने जब अपनी विजय–गाथा सुनाई, तो भगवान ने प्रशंसा की, पर गोस्वामी जी ने यह शब्द जोड़ दिया **'रूख बदन करि'** – भगवान

की मुखाकृति में रुक्षता थी और शब्द कोमल थे – '**बचन मृदु**' अभिप्राय यह है कि 'स्नेह' ही भक्तों का सर्वस्व होता है। और भक्त जब स्नेह लेकर भगवान के पास जाता है, तो भगवान के मुखमण्डल पर उसी स्नेह की सुचिक्कणता दिखाई देती है। पर जब कोई स्नेह–रहित होकर आया तो भगवान में रूखापन, रुक्षता आ गई। उस समय यदि नारद जी उनके मुख की ओर देख लेते, तो सावधान हो जाते। क्योंकिः––

रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्री भगवान।

गोस्वामी जी ने शब्द कितना सुन्दर चुना–'श्री भगवान बोले'। 'भगवान' शब्द का तात्पर्य है कि जिनमें ऐश्वर्य, सद्गुण आदि छः वस्तुएँ अनन्त रूप में विद्यमान हैं। भगवान बोले :––

''तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मद मान।।''१/१२८

–नारद ! तुम कह रहे हो कि तुमने काम को जीत लिया, पर मैं तो कहता हूँ कि जो तुम्हारा स्मरण कर लेगा उसके भी काम, क्रोध, मोह, मद आदि सब मिट जाएँगे। यह सोचने की बात है कि कोई व्यक्ति आपकी प्रशंसा करते हुए कह दे कि आप करोड़पति हैं, तो आप अपने बैंक की धनराशि, सम्पत्ति को महत्व देंगे या उस प्रशंसक की बात को महत्व देंगे ? यद्यपि सारे शास्त्रों ने तो यह कहा है कि भगवान के स्मरण से बुराई मिटती है, किन्तु भगवान के इस कथन को नारदजी ठीक अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाए।

प्रभु ने हनुमानजी की भी प्रशंसा की। वे भी लंका से विजयी होकर लौटे हैं। पर चरण छोड़कर मुख की ओर इसलिए देखने लगे कि कहीं मेरी भी प्रशंसा नारदजी की ही तरह तो नहीं हो रही है ! पर गोस्वामी जी ने लिखा कि जब देखा तो प्रसन्न हो गए। क्योंकि वहाँ रुक्षता तो थी नहीं, हृदय का वात्सल्य और स्नेह की स्निग्धता ही व्याप्त थी। उन्हें विश्वास हो गया कि यह प्रशंसा भुलावा, परीक्षा या अतिशयोक्ति नहीं है, प्रभु अपना वास्तविक भाव प्रगट कर रहे हैं।

पर इतना होने पर भी वे कितने सजग हैं। मुख पर दृष्टि पड़ी तो ––

'गात हरषि हनुमंत।'

पर दूसरे ही क्षण –

'चरन परेउ प्रेमाकुल'

और पुकार उठे –

'त्राहि त्राहि भगवंत।'

प्रभु रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। प्रभु ने पूछा–"हनुमान ! मुख को देखा और फिर चरणों पर क्यों गिर पड़े ?" हनुमान जी का तात्पर्य था–प्रभु ! व्यक्ति प्रशंसा सुनता है, तो अभिमान होता है और अभिमान होने से गिरता है, यह क्रम है।

जे ग्यान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखे हरी।। ७/१२/छंद-३

मैं समझ गया, प्रशंसा तो हो ही रही है, बस अब गिरना बाकी है। और जब गिरना ही है, तो ऐसे स्थान पर गिरें, जहाँ चोट बिल्कुल न आए। इसलिए आपके कोमल चरणों पर गिरना ही श्रेष्ठ है। इसमें गिरना, उठने की अपेक्षा भी अधिक कल्याणकारी है।" 'त्राहि–त्राहि' क्यों? तो हनुमानजी ने कहा कि लंका के राक्षसों से मुझे इतना डर नहीं लगा जितना इस अभिमान के राक्षस से लगता है। अब तो आप ही इससे रक्षा कीजिए।

हनुमानजी चरणों में गिरे हुए हैं। और यदि कोई चरणों में गिरे तो फिर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह उसे उठाए। प्रभु तो स्वभाव से ही मर्यादा में हैं, शील में हैं। वह उन्हें उठाना भी चाह रहे हैं पर आज दृश्य कुछ विचित्र है।

बार बार प्रभु चहइ उठावा।
प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।। ५/३२/१

प्रभु उन्हें उठा रहे हैं, हृदय से लगाना चाहते है – हनुमान ! तुम्हारा स्थान तो यहाँ है। किन्तु हनुमानजी का आग्रह है कि मेरा स्थान तो

चरण में है। मानों भक्त और भगवान में एक होड़ है। हनुमानजी से किसी ने पूछा – "आप उठ क्यों नहीं रहे हैं ?" उन्होंने कहा – "मैने देख लिया कि इसमें जितना रस है, उठ जाने में उतना नहीं। क्योंकि अगर मैं उनके उठाने पर उठ जाऊँगा, तो प्रभु पहिला काम तो यह करेंगे कि मेरा जो हाथ पकड़ हुए हैं, उसे छोंड़ देंगे। इसलिए बढ़िया बात तो यही होगी कि हाथ पकड़े ही रहें, छोड़ने न पाएँ।"

हनुमानजी का अभिप्राय है कि प्रभु ! अगर आपने सोच लिया कि जीव योग्य हो गया, अपने पैरों खड़ा हो सकता है, तब आप सोचेंगे कि अब इसे सहायता देने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर मुझे यह आवश्यकता है कि आप अपने कर–कमलों के द्वारा निरन्तर आश्रय देते रहें।

कल यह बात मैं कह रहा था कि जब हनुमानजी ने प्रभु तथा श्री लक्ष्मणजी को पीठ पर बैठा लिया तो प्रभु ने मुस्कुराकर कहा कि लक्ष्मण ! हम दोनों का भार उठानेवाला सेवक आज मिल गया। अब हम लोग निश्चिन्त हैं। हनुमानजी ने सुन लिया। उन्होंने तुरंत कहा,– "प्रभु ! क्षमा कीजिएगा। यह आपके निश्चिन्त होने की वेला नहीं है। बल्कि अब तो आपको यह निर्णय करना है कि मैं आपका भार उठाए हुए हूँ या आप मेरा भार उठाए हुए हैं ? पीठ पर बैठाकर, समतल जमीन पर चलने में गिरने का डर कम है। पर पहाड़ की चढ़ाई में, फिसलकर गिरने का बड़ा डर रहता है। और पहाड़ पर चढने में चढ़नेवाले से ज्यादा डर और चिन्ता कन्धे पर बैठे रहनेवाले को होगी कि यदि यह गिर गया तो हमारा क्या होगा ? हम तो स्वयं को सम्भाल भी नहीं सकते ! हनुमानजी कहते हैं–"प्रभु! मैंने तो सारी चिन्ता का भार आपको ही सौंप दिया है। क्योंकि हनुमान यदि अपने गिरने की चिन्ता करेगा तो उससे बात बनेगी नहीं पर अगर आप यह चिन्ता करेंगे कि 'हमारा भक्त गिरने न पाए', तो फिर गिरने की कोई आशंका ही नहीं रहेगी।" और सममुच भक्त के गिरने में ज्यादा चोट तो भगवान को ही आती है। भक्त का पतन हो जाय, उसमें भगवान की ही निन्दा होती है। सीधा–सा तात्पर्य

है कि हनुमानजी यह नहीं मानते कि 'मैं प्रभु का भार उठा सकता हूँ अथवा लक्ष्मणजी का भार उठा सकता हूँ,'। आज अद्भुत दृश्य है। हनुमानजी इतना आनन्द ले रहे हैं कि उठना ही नहीं चाहते।

प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।

हनुमानजी के कुछ नाते तो प्रभु से बन चुके हैं। स्वामी और सेवक का नाता बन चुका है। आगे चलकर प्रभु ने हनुमान जी को शिष्य भी बनाया। और उसके बाद हनुमानजी को पुत्रत्व भी प्राप्त हो गया। रामायण में आप यह क्रम पावेंगे। प्रभु ने स्वामी बनकर उन्हें सेवक स्वीकार किया। और सेवक का क्या कर्त्तव्य है, बता दिया और वे सेवा कार्य में संलग्न हो जाते हैं।

आगे चलकर वह क्षण आता है कि जब बन्दरों को श्री सीताजी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है। अध्यात्म–साधना के क्रम में भगवान श्री राम अखण्ड ज्ञानघन हैं। लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। हनुमानजी को दोनों की प्राप्ति हो गई। पर प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति ही सब कुछ है ? रामचरितमानस का संकेत यह है कि ज्ञान–वैराग्य के साथ जब तक भक्तिदेवी की कृपा न हो, तब तक पूर्णता नहीं है। भक्ति के बिना धन्यता की अनुभूति नहीं होती। इसलिए 'त्रयी' की आवश्यकता है। श्री सीताजी को पाने की आवश्यकता है। भगवान श्री राम स्वयं कहते हैः––

यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं।। ३/४२/१०

हमारे चतुर भक्त कितने भी बड़े ज्ञानी क्यों न हो जायँ, पर वे भक्ति का परित्याग नहीं करते। मानों ज्ञान–वैराग्य प्राप्ति के बाद भी भक्ति देवी की प्राप्ति आवश्यक है। और समस्या यह है कि हनुमानजी जो नाता जोड़ना चाहते हैं, उस नाते की स्वीकृति भी उन्हीं से प्राप्त होनी है। स्वामी और सेवक के नाते के लिए तो बस दोनों स्वीकार कर लें एक दूसरे को, तो नाता जुड़ जाता है, पर पुत्र का नाता स्वीकार करने का वास्तविक केन्द्र तो माँ ही है। हनुमानजी भगवान के पुत्र के रूप में उनका 'छोह' चाहते हैं।

नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।। ४/२/२

और पुत्र के रूप में 'छोह' की प्राप्ति तो माँ की कृपा तथा आशीर्वाद से ही होगी।

बन्दर श्री सीताजी की खोज के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। उस समय श्री हनुमानजी सबसे पीछे हैं, जैसा कि उनका स्वभाव है कि वे अपने आपको सबसे छोटा मानते है। यद्यपि कई लोग इस होड़ में रहते हैं कि हम आगे रहें।

कल एक देवी ने मुझसे कहा कि महाराज श्री दशरथ ने कितना अनादर किया सुमित्रा का कि खीर बाँटते समय एक तो उन्होंने सुमित्रा जी को पूछा ही नहीं और दिया भी तो अपने हाथ से नहीं दिया। इसका अर्थ है कि उन्होंने उनका तिरस्कार किया। मैंनें कहा–"भई ! तिरस्कार आपको लग रहा है। आपने कभी सुमित्राजी से पूछा कि उनको कैसा लगा ? आप होती, तो शायद कह देती कि मेरा तिरस्कार कर रहे है, अतः मैं लूँगी ही नहीं।" उन देवीजी को इसका रहस्य ज्ञात नहीं था, इसलिए ऐसा प्रश्न किया। वस्तुतः सुमित्रा जी हैं उपासना। ज्ञान व्यक्ति को सबसे बड़ा बनाता है और उपासक वह है जो सबसे पीछे हो, सबसे छोटा हो। भक्ति में सबसे अधिक लाभ में भी वही रहता है, जो सबसे छोटा हो। यही हुआ भी। अन्ततोगत्वा, कौशल्याजी, और कैकेईजी ने जितना पाया, सुमित्राजी ने उनसे दूना पाया। यही आनन्द यहाँ पर है। हनुमानजी सबसे पीछे आये और प्रभु यदि विनोद में उनसे कहें कि तुम सबसे बाद में आए, अब तो सब समाप्त हो गया, कुछ बचा ही नहीं, तुम्हें क्या दूँ ? और तब श्री हनुमानजी कह सकते है कि प्रभु ! कुछ नहीं बचा, तो कोई बात नहीं, आप तो बचे हुए हैं, आप अपने को ही दे दीजिए। और भक्त यही पा लेता है। दादूजी ने भगवान से कहा– "प्रभु !

तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा पिण्ड परान।"

यह शरीर, मन, प्राण जो कुछ भी है सब आपका हैं। भगवान ने कहा – "कुछ अपने लिए भी तो बचा लो, सब मुझे ही दे डालोगे क्या?"

उन्होंने कहा – "नहीं महाराज ! ये सब आप ले लीजिए, पर एक वस्तु मैं रख लूँगा।" "क्या ?" बोले :—

"तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा पिण्ड परान।
सब कुछ तेरा - - - - - -
लेकिन, **तू है मेरा ! यह दादू का ग्यान।"**

सब कुछ तो आपका है पर आप मेरे हैं। हनुमानजी सबसे अधिक लाभ में रहे। उन्हें वह वस्तु मिली जो किसी बन्दर को नहीं मिली।

अब यहाँ पर भक्ति–साधना का सूत्र यह है कि ये सारे बन्दर श्री सीताजी को पाना चाहते है। गोस्वामी जी कहते है कि बन्दर साधक है।

"कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट कटक"

सीताजी के अनगिनत रूप हैं। तथा साधक अलग–अलग रूपों में उन्हें पाना चाहता है। अन्य सब बन्दर आगे–आगे बढ़कर उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु हनुमानजी को अपने में कोई विशेषता दिखाई नहीं देती कि जिसे सामने रखकर वे आगे आएँ। इसलिए वे सबसे पीछे रहते हैं। पर इससे सचमुच एक अद्‌भुत बात हो गई। प्रणाम करनेवालों की जब भारी भीड़ हो तो प्रभु को चिन्ता रहती है, एक प्रणाम करके हटे तो दूसरा प्रणाम करे। पर अन्त में प्रणाम करनेवाले के लिए यह चिन्ता और समस्या नहीं कि वह जन्दी से हट ही जाय। क्योंकि उसके पीछे तो कोई है नहीं। इसलिए भक्त ने बढ़िया समय चुना। और जब हनुमान जी ने सबसे पीछे प्रणाम किया तो एक नई बात यह हो गई कि :—

जानि काजु प्रभु निकट बोलावा।

प्रभु ने कहा – "हनुमान ! तुम और पास आ जाओ।" अब प्रभु को चिन्ता नहीं कि पीछे वाले क्या कहेंगे ? और निकट बुलाकर श्री हनुमान जी को दीक्षा दी। यद्यपि सेवाधर्म की दीक्षा तो पहले दी थी

पर अब भक्ति प्राप्ति की दीक्षा दे रहे हैं। हनुमान जी शंकरावतार है जिनके लिए कहा गया है––

तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना।

समस्त गुरुओं के भी परम गुरु भगवान शंकर हैं। और वे हनुमान जी के रूप में आए हैं। प्रश्न यह है कि जो त्रिभुवन–गुरु है, परमगुरु है, उसे गुरु की अपेक्षा है या नहीं ? इस सम्बन्ध में शास्त्रों की मान्यता है कि :––

गुरु बिनु भवनिधि तरे न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई।। ७/६२/५

ब्रह्मा और शंकर भी बिना गुरु के कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। इसका अभिप्राय है कि साधक को साधनपथ का निर्देश पाने के लिए गुरु की आवश्यकता है। और साथ–साथ जहाँ पर वह साधन का अभिमान अर्पित कर सके, इसके लिए गुरु का विशेष महत्व है।

व्यक्ति साधन में सत्कर्म करेगा। सत्कर्म में अभिमान होगा। और अगर हम सत्कर्म करके, बहुत ऊँची वस्तु पा भी लें, पर यदि यह लगे कि यह हमारे सत्कर्म का परिणाम है, तो मानों हम उचित दिशा में नहीं चल रहे हैं। इसलिए साधन को किस दिशा में ले चलना है, इसका निश्चय गुरु करेगा। और जब व्यक्ति साधन का अभिमान न करके गुरु की कृपा मानकर साधन करेगा, तो फल की प्राप्ति में भी गुरुकृपा ही दिखाई देगी।

भगवान राम साक्षात् ईश्वर हैं। रावण का बध प्रभु करते हैं। जब यह समाचार कौशल्या अम्बा को प्राप्त होता है तो उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है कि हमारे पुत्र में चौदह वर्षों में ऐसा क्या पराक्रम बढ़ गया कि उसने रावण जैसे दुर्धर्ष राक्षस का वध कर डाला ! और जब श्री राम वापस आए तो माँ बड़े ध्यान से देखने लगीं।

उन्हें तो श्री राम और भी दुबले लगे। वे सोचने लगीं:––

हृदय बिचारत बारहिं बारा।
कवन भाँति लंकापति मारा।।

अति सुकुमार जुगुल मेरे बारे।
निसिचर सुभट महाबल भारे।। ७/६/८

कहाँ रावण, कुम्भकर्ण जैसे पराक्रमी और कहाँ मेरे ये सुकुमार पुत्र ! भला कैसे मारा होगा ? प्रभु तो माँ की भावना को समझ गए। प्रभु ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। वे माँ से बोले नहीं क्योंकि माँ को उपदेश देने की कल्पना भी प्रभु नहीं कर सकते। तुरंत उन्होंने बन्दरों को आदेश दिया कि गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करो। अब जो दृश्य उपस्थित हुआ, उसकी विशेषता यह है कि इसमें एक ओर वे सारे बन्दर हैं, जो साधन पक्ष है, दूसरी ओर साक्षात् भगवान हैं और बीच में गुरु वशिष्ठ हैं। मानों भगवान, साधन और गुरु तीनों एक साथ ! तब भगवान राम ने बन्दरों का परिचय देते हुए गुरुदेव से कहा ——

''ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे।।'' ७/७/७

गुरुदेव ! लंका का महान युद्धरूपी समुद्र जो था, ये बन्दर उसमें जहाज थे। इसका अर्थ है कि जहाज पर कोई यात्राकरके आए और आप उससे कहें कि 'आप बड़े बहादुर हैं, हजारों मील की यात्रा तय करके आ गए', तो जो बुद्धिमान व्यक्ति होगा, वह कहेगा कि 'यात्रा हमने की या जहाज ने ?' हम तो बैठे—बैठे चले आए। हम तो एक पग भी नहीं चले।' भगवान राम ने कहा कि बन्दर जहाज है। और फिर बन्दरों से कहा कि इन्हें भी पहचान लोः——

गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे।
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे।। ७/७/६

मित्रों ! ये हमारे गुरुदेव हैं, इन्ही की कृपा से राक्षस मारे गए हैं। अभिप्राय यह है कि केवल जहाज से ही काम नहीं चलता, मल्लाह भी चाहिए और वह मल्लाह है——

करनधार सदगुरु दृढ़ नावा।

साधन रूपी नौका यदि ऐसे ही नदी में डाल दी जाय, तो वह बहकर न जाने कहाँ चली जाएगी ? किन्तु मल्लाह उसको सही दिशा देता है। इसी प्रकार जीवन में साधन तो होना चाहिए, पर भगवान कहते हैं कि साधन की भूमिका जहाज की है। साधन को किस दिशा में चलना है, इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति गुरु का आश्रय ले। अन्यथा व्यक्ति की दशा उस व्यंग्यात्मक कथा के पात्र जैसे हास्यास्पद हो जाएगी।

कहा जाता है कि एक व्यक्ति ने विचार किया कि नौका में यात्रा करनी चाहिए। और 'थकान न आए' यह सोचकर सायंकाल उसने थोड़ी–सी भाँग भी पी ली। इसके बाद आनन्द से वह रात भर नौका चलाता रहा। पर जब प्रातः काल प्रकाश फैला तो उसने देखा कि वह जहाँ से चला था, वहीं का वहीं है। सोचने लगा कि मैं रात भर नौका चलाता रहा, मैने इतना परिश्रम किया, पर यह क्या हुआ? किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने समझाया–भई ! तुम रात भर नाव चलाते रहे, यह तो ठीक है, पर लंगर तो वहीं का वहीं पड़ा रह गया। लंगर तो तुमने उठाया ही नहीं ! इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि साधन नौका है और अभिमान लंगर है। अभिमान को साथ रखकर जीवन भर साधन करते रहें, किन्तु कोई लाभ नहीं होगा। पर जब गुरुदेव की कृपा से अभिमान का लंगर उठ जाता है और वे सही दिशा दे देते हैं, तो साधक को लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

हनुमानजी दीक्षा लेते हैं। और दीक्षा वही लेगा, जो यह मानता हो कि 'मैं कुछ नहीं जानता' ––

ता पर मैं रघुबीर दोहाई।
जानउँ नहिं कछु भजन उपाई।। ४/२/३

और आज प्रभु हनुमानजी को रामनाम की दीक्षा दे रहे हैं। गोस्वामी जी ने लिखा ––

कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी।

प्रभु ने यह सोचकर कि 'हनुमान तो मेरा जन है', तुरंत उँगली से मुदिका निकाली और श्री हनुमानजी को दे दिया। उस मुद्रिका में

स्वर्ण और रत्न के बीच में 'रामनाम' अंकित था। श्री हनुमानजी की दीक्षा हुई। 'हनुमान – चालीसा' में आप पढ़ते ही हैं।

प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं।

उस मुद्रिका को हनुमानजी ने मुख में धारण कर लिया। इसका तात्पर्य है कि अगर उन्होंने मुद्रिका को आभूषण समझा होता, तो मुठ्ठी में, उँगली में या वस्त्र में ले लेते, पर उन्होंने उसे मन्त्र के रूप में ग्रहण किया। दीक्षा में गुरु, साधक को मंत्रजप का आदेश देते हैं और जप मुख से किया जाता है। इसलिए हनुमानजी को लगा कि आज प्रभु ने अपने नाम की मन्त्र दीक्षा दे दी। हनुमानजी ने उसे मुख में धारण कर लिया। गोस्वामीजी ने लिखाः——

हनुमत जन्म सुफल करि माना।
चलेउ हृदय धरि कृपा निधाना।। ४/२२/१२

आश्चर्य है इतने दिनों से भगवान के साथ परिचय है, सानिध्य है, पर आज सुफल कैसे हो रहा है ? पर इसमें सूत्र वही है कि बीज को यदि आप जमीन में गाड़ दें, उसमें अंकुर निकलेगा, बढ़ेगा, तब आप प्रसन्न तो होंगे, पर पूरा आनन्द तभी आएगा जब उस वृक्ष में फल आ जाए। मानों अब तक हनुमानजी साधना का वृक्ष सींच रहे थे। अभी तक तो साधना का क्रम चल रहा था। पर अब भगवान ने अपने नाम की मुद्रिका दे दी। अभिप्राय यह है कि बिना भगवन्नाम का आश्रय लिए भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। हनुमानजी को लगा कि आज तो फल मिल गया। आप यह जानते ही है कि हनुमानजी तो जन्म के भूखे है। और इस फल का भी परम फल तब प्राप्त हुआ जब उन्होंने माँ से कहा ——

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुंदर फल रूखा।।" ५/१६/७

हम यदि क्रम पर विचार करके देखें तो इसका अभिप्राय है कि हनुमान जी यह अनुभव करने लगे कि भगवान ने नाम दे दिया, क्योंकि नाम के द्वारा ही तो भक्ति देवी को प्रसन्न किया जा सकता है। इसलिए वे परम प्रसन्न हैं कि आज फल मिल गया। परन्तु प्रश्न यह है कि जब फल मिल ही गया, तो फिर श्री सीताजी के यहाँ क्या मिलेगा ? और तब कहा गया, न – न ! फल मिल जाने के बाद भी एक वस्तु बच जाती है जिसे श्री सीताजी ही दे सकती है। और वह है :—

सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरि पद रति रस बेद बखाना।। १/३६/१४

पकने के बाद पूर्णता तब है, जब फल में रस आ जाय। और यह रस और मिठास तो केवल भक्ति की कृपा से ही आती है।

हनुमानजी इस यात्रा में भगवन्नाम का आश्रय लेकर दुर्गुण – दुर्विचारों पर विजय प्राप्त करते हुए, माँ के पास पहुँच कर अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। माँ उन्हें पुत्र रूप में स्वीकार कर लेती हैं। और जब वहाँ से वापस आते हैं, तो प्रभु से भी पुत्र का सम्बोधन प्राप्त कर लेते हैं। हनुमानजी जब प्रभु को प्रणाम करते हैं, तो प्रभु पहला काम यह करते हैं कि :—

कँर गहि परम निकट बैठावा।

यद्यपि श्री हनुमानजी को संकोच होता है, किन्तु भगवान श्री राम का अभिप्राय है – न, न ! तुम सबको भले ही हरा कर आए हो,पर आज हारना पड़ेगा। प्रभु ने हाथ पकड़कर अत्यन्त पास बैठाया। मानों मन ही मन प्रभु ने कहा कि तुम भले ही कहो कि मैं सखा नहीं, पर हम तुम्हें सखा बनाए बिना मानेंगे नहीं। इस प्रकार श्री हनुमानजी के प्रभु से सब नाते जुड़ गए। वस्तुतः भक्ति देवी की कृपा से जीवन में जो तृप्ति आती है, धन्यता आती है, श्री हनुमानजी के चरित्र में वह विद्यमान है।

महर्षि वाल्मीकि ने प्रभु से कहा कि जिनके समस्त नाते एकमात्र आप से ही हैं:—

मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।

और प्रभु तो हनुमानजी के मन–मन्दिर में निवास करते ही हैं। बस आज इतना ही। अब कल हम पुत्र और माँ के नाते का आनन्द लेंगे।

।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय ।।

।। श्री रामः शरण मम्।।

(६)

''स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।'' २/१३०

प्रभु श्री रामभद्र की महती अनुकम्पा से पुनः इस वर्ष यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि मैं भगवान श्री लक्ष्मीनारायण के पवित्र प्रांगण में भगवद्–चरित्र का माध्यम बना। यह कार्य हमारे बिरला दम्पत्ति श्री बसन्त कुमार जी एवं डा० श्रीमती सरलाजी बिरला की श्रद्धा–भक्ति और सेवा भावना का ही परिणाम एवं परिचायक है। हम लोग प्रभु के कृतज्ञ हैं। मैं इन दम्पति को सभी दृष्टियों से मंगल–कामना और आशीर्वाद देता हूँ।

महर्षि बाल्मीकि प्रभु को निवास के लिए जो चौदह स्थान बताते हैं, उनके प्रतीक रामचरितमानस के वे भक्त हैं, जिनमें, इनमें से कोई न कोई लक्षण विद्यमान हैं। किन्तु कुछ भक्त ऐसे है, जिनमें चौदहों स्थान के लक्षण विद्यमान हैं। श्री भरत तथा श्री हनुमानजी का चरित्र हमारे सामने एक दिव्य रूप में उपस्थित है। यह कह लीजिए कि श्री हनुमानजी का हृदय ही वह मंदिर है, जहां प्रभु निवास करते है। आज के दिन जगन्नियन्ता परात्पर प्रभु, महाराज श्री दशरथ के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए और श्री हनुमानजी प्रभु के पुत्र बन गए। तो आइए, श्री हनुमानजी के चरित्र में यह लक्षण जिस विलक्षण रूप में विद्यमान है, उस पर एक दृष्टि डालें।

जब भगवान पुत्र के रूप में अवतरित होते हैं, तो ऐसा वे भक्त की प्रार्थना पर करते हैं। वस्तुतः इसके पीछे जो कारण दिखाई देता

है, उसमें जो अंन्तर प्रतीत होता है, वह ऊपर से, निकट से या आमने–सामने से देखने पर जो दृश्य दिखाई देता है, उसमें दिखाई देनेवाले अन्तर जैसा ही होता है। यहाँ इतने व्यक्ति दिखाई दे रहे हैं, किंतु आकाश में ऊपर उठते जाने से ऐसा दिखाई नहीं देगा। इसे प्रतीकात्मक भाषा में यों कह सकते हैं कि संसार में इतनी घटनाएं हो रही हैं, क्या वे ईश्वर को दिखाई नहीं देतीं ? और यदि दिखाई दे रही हैं, तो फिर वह हस्तक्षेप क्यों नहीं कर रहा है ? यद्यपि इसका उत्तर वेदान्त की भाषा में भी दिया गया तथा भक्तों की भाषा में भी। पर दोनों में भिन्नता है।

भक्तों की भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि ईश्वर इतने ऊपर हैं कि जो वस्तुएं हमें–आपको दिखाई देती है, वे उसे नहीं दिखाई देतीं। और यह स्वाभाविक भी है। जिस ईश्वर के एक–एक रोम में करोड़ ब्रह्माण्ड हो, उस ब्रह्माण्ड में भला व्यक्ति उसे कैसे दिखाई दे सकते हैं ? भक्तों ने कहा,–"ऊपर होने से वह हमारी स्थिति को शायद देख–समझ नहीं रहा है।" और तब भक्तों ने अवतार के रूप में इसका उपाय निकाला।

समस्या का एक समाधान देते हुए भगवान ने कहा –"मैं ऊपर हूँ, तो तुम भी ऊपर चले जाओ। सब भेद समाप्त हो जाएगा।" किन्तु भक्तों ने कहा – "महाराज ! यदि इतने व्यक्ति ऊपर आएँगे, तो कितना समय लगेगा ? इसलिए क्यों न आप ही उतरकर हमारे बीच में आ जाइए। हमारी समस्याओं को देखिए, समझिए, अनुभव कीजिए और उनका समाधान दीजिए।" यही अवतारवाद है।

मनु बड़े विलक्षण हैं। वे मानव जाति के पिता हैं। उन्होंने जब ईश्वर से पुत्र बनने की प्रार्थना की तो इसके पीछे भावना यही है कि 'मेरे जो अनगिनत पुत्र हैं, उनकी समस्याओं का समाधान मैं नहीं ढूँढ पाया'। इसलिए मनु भगवान से प्रार्थना करते हैं और ईश्वर ऊपर से नीचे उतरता है। स्वयं अवतरित होता है। वह हम लोगों की समस्या को स्वयं देखता है, अनुभव करता है। उसका आचरण भी वैसा ही दिखाई देता है। और तब भक्तलोग उसका बड़ा आनंद लेते है।

एक दिन कौशल्या अम्बा को पूजन में विलम्ब हो गया और वे राघव को दूध पिलाना भूल गई। उस समय रामभद्र के मुख–मण्डल पर एक क्षोभ का भाव दिखाई पड़ा, रुक्षता दिखाई पड़ीः–

सजल नयन कछु मुख करि रूखा।
चितइ मातु लागी अति भूखा।। ७/८७/६

भूखे भगवान ने रूखी दृष्टि से माँ की ओर देखा तो भक्तों को अवसर मिला। उन्होंने भगवान से कहा–"महाराज ! अब आपने भी भूख का अनुभव कर लिया न देखिए, भूख लगने पर जैसे बालक माँ की ओर रुक्ष हो जाता है, वैसे ही हम लोग भी भूख लगने पर यदि आपकी ओर से रुक्ष हो जाएँ, तो आप भी बुरा मत मानिएगा। आप स्वयं अनुभव कर रहे है।"

एक दिन महाराज दशरथ भोजन कर रहे थे। अचानक ध्यान आया –"राम कहाँ हैं ?" और तब महामंत्री सुमन्तजी ढूँढ़ते हुए जाकर देखते है कि वे बाल–मण्डली के साथ खेल रहे हैं।

प्रभु ने 'नाहीं' कर दिया – मैं नहीं आता। भक्त बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे–"महाराज ! हम लोग भी अगर संसार के खेल में मग्न होकर आपके बुलाने पर न आएँ, तो आप भी बुरा मत मानिएगा। आप भी तो खेल में इतने डूब गए कि बुलाने पर भी ध्यान नहीं दे रहे हैं।" जब प्रभु नहीं आए तो कौशल्याजी ने कहा –"मैं लाती हूँ उसे।" और जब कौशल्या अम्बा को उन्होंने अपनी ओर आते देखा तोः—

"कौसल्या जब बोलन जाई।
ठुमकु ठुमकु प्रभु चलहिं पराई।।" १/२०२/७

अब प्रभु भाग रहे हैं और कौशल्या अंबा उनके पीछे दौड़ रही हैं। उसके बाद प्रभु दौड़ते–दौड़ते गिर पड़े, धूल में सन गए। और तब कौशल्या अंबा ने पकड़कर उन्हें गोद में ले लिया। भक्तों ने कहा – "प्रभु ! देख लीजिए, आप माँ के पुकारने पर भी भाग रहे थे और अंत

में धूल–कीच से आपका शरीर लिप्त हो गया, पर माँ ने उसी रूप में आपको गोद में उठा लिया। तो प्रभु ! आप भी भूलिएगा नहीं, हम भी आपसे दूर भाग जाएँ तथा धूल या कीचड़ से सन जाएँ तो उस धूल–कीचड़ से सने रूप में आप भी हमें अपनी गोदी में ले लीजिएगा।'' इस तरह से भगवान के जन्म लेने पर संसार के जीवों ने उनसे अपनत्त्व और निकटता का अनुभव किया। उनके रोने, हँसने और भागने आदि की लीलाओं को देखकर जीवों ने आनंद के दिव्य रस का अनुभव किया–

रूप रासि नृप अजिर बिहारी।
नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।। ७/७६/८

आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं।। ७/७७ (क)

ऐसा दिव्य रस प्रभु के जन्म का है। इसलिए भगवान शंकर ने सोचा कि क्यों न हम भी भगवान के पुत्र बनने का आनंद ले लें ! श्री हनुमानजी ने प्रभु से अनेक नाते जोड़े। पर उन सभी नातों में पार्थक्य है।

स्वामी और सेवक का नाता, मित्र और मित्र का नाता, गुरु और शिष्य का नाता, पिता और पुत्र का नाता एवं माता और पुत्र का नाता, ये सभी नाते हनुमानजी के प्रभु के साथ हैं। हनुमानजी ने प्रभु से सेवाध ार्म की दीक्षा ली और सेवाधर्म जिस प्रकार से उनके जीवन में चरितार्थ हुआ, वह अपने आप में अनुपमेय है। प्रभु जैसा उदार स्वामी अगर संसार में कोई दूसरा नहीं है, तो श्री हनुमानजी जैसा सेवक भी कोई दूसरा नहीं। यद्यपि हनुमानजी सखा होने का दावा नहीं करते, पर प्रभु उन्हें बाध्य करते हैं – ऐसा कैसे होगा ! वस्तुतः मित्र, जैसे मित्र को संकट में सहायता का आश्वासन देता है, धैर्य बँधाता है, नैराश्य को दूर कर आशा बँधाता है, ये सभी भूमिकाएँ हनुमानजी के द्वारा संपन्न होती हैं।

श्री हनुमानजी ने लंका से लौटकर श्री सीताजी की दशा का जो वर्णन किया, उसे सुनकर प्रभु की आँखों में आँसू आ गए। उस समय हनुमानजी ने जो शब्द कहे, वे ठीक वैसे ही हैं, जैसे एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है। उन्होंने कहा–"प्रभु ! आप व्याकुल क्यों हो रहे हैं?

केतिक बात प्रभु जातुधान की।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी।।" ५/३१/४

ईश्वर को आश्वासन दे रहे हैं–"आप क्यों चिन्ता करते हैं, हम स्वयं राक्षसों को जीतकर श्री सीताजी को ले आएँगे।" प्रभु ने हाथ पकड़कर पास बैठा लिया – मित्र की भाषा बोलने के बाद भी क्या तुम इस तरह चरणों में ही बैठे रहोगे ? इस विपत्ति के समय मुझे ढ़ाढ़स बँधान वाले हनुमान ! तुम तो मेरे मित्र भी हो। यह कहा जा सकता है कि हनुमानजी को सभी सुख मिले। उन्होंने सेवा भी की, मैत्रीधर्म का भी पालन किया सच्चे शिष्य के धर्म का कुशलतापूर्वक निर्वाह किया। पर शिष्य की तो बड़ी कड़ी परीक्षा होती है।

भगवान श्री राम ने जब हनुमानजी को सेवा धर्म की दीक्षा दी तो एक वाक्य कहा कि हनुमान ! मेरे सेवक को तो अनन्य होना चाहिए।

"सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।"

हनुमान ! मैं ऐसी बात कह रहा हूँ जिस पर दृढ़ रहना बड़ा कठिन है। लेकिन यदि किसी में सच्ची अनन्यता आ जाय तो उसकी बुद्धि किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होगी:—

मति न टरइ हनुमंत

प्रभु ने शिक्षा दी – सारे संसार में मुझे देखना ही अनन्यता है। इसकी प्रभु ने एक समय परीक्षा भी ली।

रामचरितमानस में वर्णन आता है कि लंका के सुबेल शैल पर भगवान श्री राम विराजमान हैं। वहाँ पर भगवान के निकट कुछ पात्र बैठे हुए थे। एक तो सुग्रीव जी थे, जिनकी गोदी में सिर रखकर प्रभु

लेटे हुए थे। विभीषणजी थे, जो प्रभु के कान के पास बैठे हुए थे। प्रभु का दाहिना चरण अंगद की गोद में था और बाँया चरण श्री हनुमान जी की गोद में। श्री लक्ष्मणजी महाराज कुछ दूर बैठे हुए थे। प्रभु ने लक्ष्मणजी को विद्यार्थियों में स्वीकार नहीं किया, अतः इस परीक्षा में उन्हें सम्मिलित नहीं किया। प्रभु ने सोचा–देखें तो इनमें से सच्चे अर्थों में मेरे निकट कौन है ? उस समय जब प्रभु ने चन्द्रमा पर एक दृष्टि डाली तो दिखाई पड़ा कि चन्द्रमा में कालापन है। प्रभु ने यह तो नहीं पूछा कि चन्द्रमा में प्रकाश कहाँ से आया। बल्कि प्रश्न किया – "मित्रों ! यह बताइए :—

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई।
कहहु काह निज निज मति भाई।। (६/११/४)

चन्द्रमा में कालापन क्यों है ?" और साथ–साथ यह भी सावधान कर दिया कि पढ़ा हुआ या रटाया गया उत्तर मत दुहराना। अपनी–अपनी बुद्धि से बताना।

आध्यात्मिक अर्थों में चंद्रमा है मन का प्रतीक। जैसे चन्द्रमा में कालिमा है, वैसे ही मन में भी दुःख की समस्या है। प्रभु देखना चाहते हैं कि चन्द्रमा में, देखनेवालों का मन स्वयं कहाँ है। इस परीक्षा में एक ही शिष्य उत्तीर्ण हुआ। और वह उत्तीर्ण छात्र – 'मति न टरइ हनुमंत' ही थे। लोग कारण ढूँढ़ते–ढूँढ़ते न जाने कहाँ–कहाँ पहुँच गए। सुग्रीवजी अपनी गोद में भगवान का सिर लिए बैठे हैं। पहले उन्होंने उत्तर देते हुए कहाः—

"कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
ससि महुँ प्रगट भूमि कै झाँई"।। ६/११/५

स्वयं चन्द्रमा में कालिमा नहीं है, यह तो पृथ्वी का प्रतिबिंब पड़ रहा है। तात्पर्य यह है कि मन में भला दुःख कहाँ से आया ? हमें यह

स्पष्ट दिखाई देता है कि कभी–कभी हम अपने दुःख से उतने दुःखी नहीं होते जितने उन सब के दुःखों से, जिनसे हमने नाता जोड़ा है। व्यवहारिक भूमि में, उनका दुःख हमारे मुख पर प्रतिबिंबित होता है। सुग्रीव ने दुःख को प्रतिबिंबित रूप में देखा।

इसके पश्चात् विभीषणजी ने कारण बताया ––

मारेउ राहु ससिहि कह कोई।
उर महँ परी स्यामता सोई।। ६/११/६

महाराज ! मुझे तो ऐसा लगता है कि राहु ने चन्द्रमा की छाती लात मार दी थी इसलिए आज भी उस प्रहार का चिन्ह उस पर दिखाई दे रहा है। इसका अभिप्राय है कि भूतकाल में जो अपमान – अनादर होता है, व्यक्ति उसे भूल नहीं पाता। अर्थात् दुःख अपनी पुरातनकाल की स्मृति है। प्रभु समझ गए कि रावण के चरणप्रहार की याद इन्हें भूल नहीं पा रही है। इसका अर्थ है कि अपनी मनोभावना ही प्रतिबिंबित हो रही है।

दाहिना चरण अंगद की गोद में है। अब वे बोल पड़े। अंगद बड़े कवि–हृदय है। युवक हैं। उन्होंने कहा – "प्रभु ! मुझे तो लगता है कि न तो यह प्रतिबिंब है और न ही प्रहार का चिन्ह है। क्योंकि प्रतिबिंब है, इसका सीधा–सा अर्थ है कि 'है नहीं', और प्रहार का चिन्ह है अर्थात् भूतकाल का सत्य है। न – न, महाराज ! यह सचमुच का दुःख है, और बड़ा गहरा दुःख है।" उन्होंने इसे काव्यमयी भाषा में प्रस्तुत करते हुए कहा – "महाराज ! जब ब्रह्मा रति का निर्माण करने लगे, तो उनको अमृत की आवश्यकता थी, और जब उन्होंने देखा कि चन्द्रमा में बहुत अमृत है, तो उसको निचोड़ डाला, जिससे चंद्रमा में छेद हो गया––

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा।
सार भाग ससि कर हरि लीन्हा।।
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं।
तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं।। (६/११/७, ८)

प्रश्न यह है कि दुःख प्रतिबिंब है कि भूतकाल की स्मृति है। किन्तु अंगद ने कहा–''नहीं–नहीं, अपने 'स्वत्व' का छिन जाना ही दुःख है।'' इस प्रकार दुःख की गहराई से एक व्याख्या की गई। और तब प्रभु ने अपने उस शिष्य (हनुमानजी) की ओर देखा, जिन्हें दीक्षा दी थी। हनुमान जी मुस्कुराए। उन्हें लगा – कारण ढूढ़ने के लिए लोग कहाँ -कहाँ चले गए। पृथ्वी और आकाश को मिला दिया। चन्द्रमा और राहु को मिला दिया। ब्रह्मा, रति आदि सब की कल्पना कर ली। वे सोंचने लगे, इतनी दूर, कारण ढूँढ़ने की क्या आवश्यकता है, जब कि कारण तो यहाँ पर ही है। हनुमानजी ने तुरंत संकेत किया :—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास।। ६/१२-क

प्रभु ! आप भी तो श्याम हैं। कैसी विचित्र बात है ! श्यामता में सब दिखाई पड़ा पर राम की श्यामता भूल गई ! इसका अभिप्राय है कि लोगों ने दुःख की समस्या बताई पर श्री हनुमानजी ने दुःख की समस्या का समाधान बताया। प्रतिबिंबित हो, प्रहार हो, या निचोड़े जाने का दुःख हो, जब तक हम इसे व्यक्तियों से जोड़े रहेंगे, तब तक दुःख दुःख ही रहेगा, लकिन जब हम सोचने लगेंगे कि यह 'दुःख' कौन है? वस्तुतः यह तो हमारे प्रभु का ही रूप है ! सीधा–सा तात्पर्य है कि जब यह लगने लगे कि दुःख भेजा किसने ; दिया किसने ? तथा दुःख का वेश बनाकर कौन आया ? तब इस दुःख की समस्या का समाधान मिल जाएगा। इस सन्दर्भ में पुराणों की एक कथा का स्मरण आ रहा है।

कथा आती है कि समुंद्र–मंथन हुआ तो अमृत से पहले विष निकल आया। जब उस विष की ज्वाला से संसार के सभी जीव जलने लगे तो भगवान विष्णु को देवताओं ने उलाहना दिया – ''आपने तो कहा था, अमृत निकलेगा, अमर होंगे ! यही अमृत है क्या ?'' भगवान ने कहा – ''घबराओं नहीं, अमृत भी निकलेगा।'' देवताओं ने कहा–''प्रभु ! जब विष से जल–मर जाएंगे, तब अमृत निकलने से भी क्या होगा ? अच्छा महाराज ! इस विष की ज्वाला से बचने का उपाय क्या है ?'' देवता

समझते थे, भगवान विष्णु सर्वसमर्थ हैं, वे इसे पी लेंगे। किन्तु भगवान ने कहा – "जाकर शंकरजी से कहो, वे विष पी लें।" आश्चर्य हुआ अभी – अभी रत्न निकला था मंथन से, उस कौस्तुभमणि को भगवान ने अपने गले में धारण कर लिया। लक्ष्मीजी ने भी उन्हीं के गले में जयमाला डाल दी। और जब विष निकला तो कह दिया –शंकरजी पिएंगे! दूसरा होता तो कितना बिगड़ता – मणि और लक्ष्मीजी निकलें, तो स्वयं ले लिए और विष निकला तो भेज दिया शंकरजी के पास!

नारदजी ने जब भगवान को उलाहना दिया तो यही कहाः—

असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु।। १/१३६

तुम बड़े स्वार्थी, बड़े कुटिल और बड़े कपटी हो ! जब तुमने शंकरजी को नहीं छोड़ा तो किसी को क्या छोड़ोगे ? पर जिन भगवान शंकर का पक्ष लेकर नारदजी ने उलाहना दिया, उनके पास जाकर जब देवताओं ने कहा कि यह विष आपके लिए है तो भगवान शंकर ने विष की ओर नहीं देखा, अपितु सीधा ही पूछा–"यह तो बताओ, इसे भेजा किसने है ?" देवताओं ने कहा – "भगवान विष्णु ने भेजा है।" भगवान शंकर तो गद्‌गद् हो गए और कहा कि जब उन्होंने भेजा है तो अवश्य ही तुम लोगों को भ्रम हो गया होगा कि यह विष है, वस्तुतः वे जब भेजते हैं तो विष के रूप में भी अमृत ही भेजते हैं। इसका सीधा–सा तात्पर्य है कि सुख का अमृत तो कल्याणकारी है ही, पर जिसे दुःख के विष के पीछे भी भगवान का ही हाथ दिखाई दे, धन्य है वह दृष्टि! शंकरजी को लगा, परम कृपामय प्रभु ने इसे भेजा है। और आपने देखा? देवता तो अमृत पीकर अमर हुए, पर शंकर जी ने अमृत नहीं विष को पी लिया, और उस विष ने प्रभाव क्या दिखाया? गोस्वामी जी ने लिखा कि :—

कालकूट फलु दीन्ह अमी को। १/१८/८

और जब उसमें भगवान दिखाई देते हैं, तो वह दुःख, दुःख नहीं रह जाता; पीड़ा, पीड़ा नहीं रह जाती। लोग भगवान शंकर का जयगान

करने लगे – शंकर जी के समान कृपालु भला कौन होगा ?

जरत सकल सुर बृंद विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मतिमंद को कृपाल संकर सरिस।। ४/०/सो०

भगवान शंकर ने हंसकर कहा – "इसमें मेरी स्तुति करने की क्या बात है ?" देवताओं ने कहा – "महाराज ! यह विष तो जलानेवाला है, पर इसने आपको नहीं जलाया ? आपमें कितनी सामर्थ्य है।" शंकरजी ने कहा "इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। तुम लोग विष लाए, उसे कंठ में रखना था और हमारे कंठ में तो निरंतर हमारे प्रभु राम का नाम रहता है। मैंने जब 'विष' को 'राम' से मिला दिया, तो 'विश्राम' हो गया, यह तो प्रभु के नाम का प्रभाव है। इसमें मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है।" इस प्रकार मानों प्रभु का हाथ न देखने पर दुःख की समस्या आती है, और नाम के द्वारा उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है।

भगवान श्री राम समझ गए कि हनुमान ही एक ऐसे हैं कि किसी भी परिस्थिति में उनकी बुद्धि विचलित नहीं होती। "मति न टरइ" – वाले श्री हनुमानजी सुख में ही नहीं, उज्ज्वलता में ही नही, श्यामता में भी प्रभु दर्शन करते हैं। सचमुच, वे प्रभु के सच्चे शिष्य हैं।

प्रभु ने जब सुना तो बहुत जोर से हँसे–

पवन तनय के बचन सुनि बिहँसे रामु सुजान।

यह नहीं कहा कि बाकी सब लोग फिसड्डी हैं, केवल हनुमान ही उत्तीर्ण हुए। प्रभु ने खूब आनंद लिया, बड़े प्रसन्न हुए। किन्तु श्री हनुमानजी की सबसे बड़ी उपलब्धि पुत्र बनने में है। तथा इसमें एक विशेष संकेत है। परीक्षा शिष्य की भी होती है और सेवक की भी होती है। शिष्य को अपने धर्म की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए और सवेक को सेवाधर्म में उत्तीण होना चाहिये। यद्यपि हमारे प्रभु स्वामी के रूप में कठोर नहीं है पर इसका अर्थ है कि इन दोनों सम्बन्धों के संदर्भ में साधनों का महत्व है। किन्तु जीवन में कृतकृत्यता (कोई कर्म करना

शेष न रहे) की स्थिति आती है अंतिम संबंध के बाद, जब श्री हनुमान जी पुत्र बनते हैं।

श्री हनुमानजी सेवक बनकर, शिष्य बनकर लंका की यात्रा पर गए, पर लौटे तो पुत्र बनकर। लौटते समय वे न तो सेवक हैं, न ही शिष्य हैं , उस समय तो मात्र पुत्र हैं। यद्यपि महत्व इन दोनों नातों का भी है। किन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि सेवक तथा शिष्य के नातों में साधना की प्रधानता है, और माता तथा पुत्र के नाते में कृपा की प्रधानता है। पुत्र का नाता योग्यता से नहीं जुड़ता, बल्कि पुत्र के रूप में जन्म लेते ही स्वतः सिद्ध अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह पुत्र होने के नाते ही पिता की सारी संपत्ति का उत्तराधिकारी है, करने या न करने से उसका काई संबंध नहीं है।

श्री हनुमानजी का चरित्र इतना विलक्षण है कि सेवक और शिष्य के रूप में, उन्होंने जिस महानतम साधना को अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया, वह संसार में किसी अन्य शिष्य या सेवक के लिए सम्भव ही नहीं है।

कल यह बात कही गई थी कि श्री हनुमानजी को प्रभु ने अपने नाम की मुद्रिका दे दी और साथ ही उन्हें यह कार्य भी सौंप दिया किः––

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। ४/२२/११

तुम जाकर सीताजी को समझाना। सचमुच, श्रीसीताजी को समझाना कैसा कठिन कार्य है ! जगजननी श्री सीता वे हैं जिनके लिए गोस्वामीजी ने वंदना में लिखाः––

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ।।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।१।१७।८

जिन श्री किशोरीजी की कृपा से व्यक्ति निर्मल मति प्राप्त करता

है। उन्हें समझाने का भार श्री हनुमानजी को दे दिया गया। आश्चर्य है, वे हनुमान जी को समझावेंगी कि हनुमानजी उनको समझावेंगे ! किन्तु प्रभु ने कह दिया कि तुम्हें श्री सीताजी को समझाना है। और जो दो बातें समझानी हैं वे हैं:––

"कहि बल[1] बिरह[2] बेगि तुम्ह आएहु।

मेरे बल का वर्णन करना और मेरे विरह का वर्णन करना। ये दोनों भी कठिन कार्य हैं। क्योंकि अगर हनुमानजी यह कहें कि 'भगवान श्रीराम बड़े बलवान हैं', तो प्रश्न यह है कि 'फिर छुड़ाकर क्यों नहीं ले आते?' और यदि कहें कि 'बिरही' हैं, तो 'बिरही में तो पीड़ा है। बिरह और बल तो सर्वथा दो भिन्न स्थितियाँ हैं। किन्तु अब आप ध्यान से देखेंगे कि श्री हनुमानजी ने यह असम्भव–सा कार्य सम्भव कैसे कर दिखाया?

यात्रा पर चलने से पूर्व हनुमानजी ने प्रभु की मुद्रिका को मुख में धारण कर लिया। इसके द्वारा हनुमानजी ने दो संकेत किए। एक तो तात्पर्य है कि मंत्र को उन्होंने मुख में धारण कर लिया। तथा दूसरा, हनुमानजी ने मानों बताया कि प्रभु ! आपके और श्री किशोरीजी के बीच संदेशवाहक बनकर मैं उन्हें समझाऊँ, क्या यह सामर्थ्य मुझमें है? और महाराज ! आपने यह कार्य मुझे सौंप दिया। तो प्रभु ! भले ही लोगों को लगे कि मैं बोल रहा हूँ, पर वास्तविकता यह है कि बोलेगी तो आपकी मुँदरी ही, आपका नाम ही बोलेगा। यह मुद्रिका ही आप दोनों के रहस्य से परिचित है। क्योंकि विवाह के पूर्व यह प्रभु के कर–कमलों में थी। तुलसीदासजी ने लिखा है कि प्रभु जब मिथिला पधारे तो यह मुद्रिका प्रभु के हाथ में थी। यह बड़ी सुन्दर, स्वर्ण–मणि जड़ित थी। इस मुद्रिका की एक और विशेषता है कि यह चित्त को चुरा लेने वाली है।

कर मुद्रिका चोरि चित लेई।

विवाह के पश्चात् प्रभु ने यह मुद्रिका, स्नेह से, जनकनंदिनी को दे दी। प्रभु ने मानों कहा – "प्रिये ! यह मेरी मुद्रिका सबका चित्त चुराती

है, पर जब आज तुमने मेरा चित चुरा लिया तो यह मुद्रिका तुम्हें देना ही ठीक रहेगा। क्योंकि तुम विजेता हो।" इस तरह से मुद्रिका दोनों के कर–कमलों में पहुँच चुकी है। इसकी एक लंबी गाथा है।

आगे चलकर भगवान श्रीराम गंगा के किनारे व्यग्र हो जाते हैं कि केवट को उतराई स्वरूप मैं क्या दूँ ? उस समय प्रभु संकोच में पड़ जाते हैं। किन्तु श्री किशोरीजी ने सोचा कि इस मुद्रिका से बढ़कर और कौन–सी वस्तु है, जिसे देकर प्रभु का संकोच दूर हो ? इसलिए उन्होंने –

मनि मुँदरी मन मुदित उतारी।

और तबः—

कहेहु कृपालु लेहु उतराई।

केवट को प्रभु वह मुँदरी देना चाहते हैं, पर केवट ने उसे अस्वीकार कर दिया। केवट मानों वह पात्र है, जिसने उस वस्तु को छोड़ दिया, जो संसार में सर्वोत्कृष्ट है। इस मुदिका में स्वर्ण है और मणि है। इसे यों कह लीजिए कि स्वर्ण है प्रेम –

कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहें।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें।। २/२०४/५

और मणि है भक्तिः—

राम भगति चिंतामनि सुंदर।

सरल–सा अर्थ है कि प्रेम, भक्ति और उनके अंतराल में है 'रामनाम'। और भई ! जब श्रीसीताजी देंगी तो फिर ऐसी ही वस्तु प्रदान करेंगी। लेकिन केवट कुछ दूसरी ही परिपाटी वाला था। उसने नहीं लिया। 'उसने क्यों नहीं लिया' उसके पीछे केवट की भावना यह थी कि'महाराज ! आपसे दीक्षा ले लें, पर दीक्षा के बाद जप भी तो करना चाहिए। और महराज ! मैं ठहरा नाव चलानेवाला दीन–हीन, भला मैं

कब जप करूँगा ? आपके नाम का जप करना मेरे वश में नहीं है', इसलिए केवट ने कहा – ''महाराज ! मैं चाहता हूँ कि आप ही मेरे नाम का जप कर लिया करें और मुझे छुट्टी दे दीजिए।''

आज जब भगवान श्रीराम मुद्रिका भेजने लगे तो मानों संकेत यह था कि 'प्रिये ! तुमने यह मुद्रिका उस केवट को देने की चेष्टा की, जो हमें पार उतारने वाला था। पर उसने नहीं ली, किन्तु अब मैं इसे एक ऐसे केवट को देकर भेज रहा हूँ, जो हमें विरह के समुद्र से पार करेगा' वहाँ पर तो गंगा की धारा थी, पर यहाँ पर तो समुद्र है। श्रीसीताजी ने हनुमानजी से यही कहा कि :—

बूड़त बिरह जलधि हनुमाना।
भयउ तात मो कहुँ जलजाना।। ५/१३/२

मानों हनुमानजी मल्लाह और जहाज दोनों हैं। भगवान का अभिप्राय था कि मल्लाह के लिए ही तुमने दिया था। और आज मैं इस मल्लाह को भेज रहा हूँ तुम्हारे पास। श्री हनुमानजी ने उस मुंदरी को अस्वीकार नहीं किया। स्वीकार करने के पीछे कारण यही है कि वे इतने समर्थ हैं कि नाम–साधना को स्वीकार करते हैं। इसे मुख में धारण करके उन्होंने संकेत कर दिया कि प्रभु ! मैं नहीं बोलूँगा, आपकी मुद्रिका आप दोनों के हृदय की भावना को जानती है, अतः उसके द्वारा ही यह कार्य संपन्न होगा।

गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने वर्णन किया कि मुंदरी और श्रीसीताजी का संवाद हुआ। वे कहती हैं:—

बोलि, बलि, मूँदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु।
(गीतावली - सु० का० --३/१)

अरी मुद्रिके ! बता हमारे प्रियतम कृपालु कौशलनाथ कुशल से तो हैं।

हनुमानजी की विलक्षणता यह है कि उन्होंने यह नहीं माना कि

मैं इतना योग्य हूँ, इसलिए मुझे प्रभु ने यह बड़ा कार्य सौंपा। वे मानते हैं कि यह तो प्रभु की कृपा हैं कि स्वयं वह वस्तु दे दी, जिससे कार्य होगा। क्योंकि जो कुछ होगा, प्रभु के नाम से, कृपा से होगा, और अगर उन्होंने मुझे माध्यम बनाया है, तो इससे बढ़कर उनकी कृपा क्या होगी? उन्होंने उस नाम को धारणकर सचमुच अद्भुत कार्य सम्पन्न किए। इस यात्रा में पग–पग पर नाम की महिमा परिलक्षित होती है।

बंदर, श्री किशोरीजी की खोज में चल पड़े। ये नाना प्रकार के साधक हैं, जो भक्ति की खोज में जा रहे हैं। सारे बंदर भटक गए। उन्हें प्यास लग गई। पर हनुमानजी को प्यास नहीं लगी। वे सोचने लगे – मुझे प्यास क्यों नहीं लगी ? उन्होंने यह नहीं सोचा कि मैं महान हूँ, शक्ति–संपन्न हूँ, इसलिए नहीं थका, और ये लोग थक गए। वे तो विचार करते हैं – देखो ! कितना बढ़िया उपाय प्रभु ने कर दिया। वस्तुतः मुझे प्यास इसलिए नहीं लगी क्योंकि 'राम नाम' की दिव्य मिठास मेरे मुँह में घुल रही है। आप अगर रामनाम लेकर चलिएगा,तो निश्चित मानिए, गला नहीं सूखेगा, श्रम की अनुभूति नहीं होगी। हनुमानजी उस दिव्य रस का पान करते हुए यात्रा करते हैं, जिसके लिए कहा गया

राम नाम मोदक सनेह सुधा पागि है।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागि है।।

रामनाम के प्रभाव से उन्हें प्यास नहीं लगती। प्यासे बंदरों के लिए वे पर्वत पर गुफा देख लेते हैं। और फिर उनसे कहते हैं – 'आप सब भीतर चलिए, इसमें जल का स्त्रोत है।"

अभी तक अंगदजी आगे चल रहे थे। पर जब गुफा को देखा, तो बोले कि मैं अब आगे नहीं चलूँगा। वे अत्यन्त आतंकित हो गए। और कहा कि हमारे पिताजी गुफा में क्या पैठे, बस संघर्ष का सूत्रपात हो गया। परिवार में कष्ट के पहाड़ टूट पड़े और अंत में उनका शरीर ही छूट गया। इसलिए मैं वह भूल नहीं दुहराऊँगा। इस अँधेरी गुफा में कौन पैठे ? पता नहीं भीतर क्या हो ? सबने श्री हनुमानजी से कहा

कि आप आगे आइए। तथा अब हनुमानजी आगे चलने लगे।

आगें कै हनुमंतहि लीन्हा।
पैठे बिबर बिलंबु न कीन्हा।। ४/२३/८

हनुमानजी गद्‌गद् हो गये। देखो तो ! प्रभु ने पहले ही समझ रखा होगा कि प्यास लगेगी, तो नाम की मुद्रिका दे दी ; अंधेरे में जाना होगा, तो ––

रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार।। १/२१

नाम ही प्रकाश है। जो नाम का आश्रय ले लेता है,उसे अंधकार में पैठने में डर नहीं लगता। जितनी समस्याएं आई, हनुमानजी ने अनुभव किया कि प्रभु ने सबके समाधान का उपाय पहले ही 'रामनाम' की मुद्रिका देकर कर दिया है। समुद्र आया तो पता चला कि उसका भी उपाय पहले से ही किया जा चुका है। गोस्वामीजी लिखते भी यही हैं कि:––

नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।
करहु बिचार सुजन मन माहीं।। १/२४/४

सुरसा ने कहा हम–"तुम्हें खाएंगे।" पहले तों हनुमानजी ने उसे मनाने का प्रयास किया, पर जब वह नहीं मानी तो हनुमानजी ने कहा – "मैं तुम्हारे मुख में पैठता हूँ, तुम खा लो।" श्री हनुमानजी भगवान शंकर के अवतार है। उन्होंने विचार किया – एक बार हलाहल आया था तो मैंने उसे कंठ मे ले लिया था, चलो, आज नाम के प्रभाव से हलाहल के कंठ में भी तो पैठकर देखें ! श्री हनुमानजी सुरसा के मुँह में गए प़र वहाँ से भी सकुशल वापस आ गए। साधक के लिए यह संदेश है कि वह एकमात्र भगवान के नाम का आश्रय ले और इससे उसे प्रत्येक समस्या का समाधान मिल जाएगा। आप किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, नाम अनेकानेक रूपों में, प्रत्येक परिस्थिति में आप की समस्याओं का निराकरण कर देगा।

गोस्वामीजी ने 'मानस' और 'विनय–पत्रिका'.में नाम की महिमा तथा उसके अनेक रूपों का वर्णन किया है। उसी नाम के प्रताप से हनुमानजी सभी विघ्न–बाधाओं पर विजय प्राप्त कर श्रीकिशोरीजी के पास पहुँच गए। किन्तु वहाँ पर उन्होंने बड़ा अनोखा कार्य किया। हनुमानजी यदि चाहते तो नीचे उतरकर मुँदरी माँ के हाथ में दे सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। बल्कि मुँदरी ऊपर से डाली, उसके बाद कथा सुनाई और तब माँ के पास गए। इसके पीछे हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि 'मैं माँ के सन्मुख जाऊँ, यह सामर्थ्य मुझमें कहाँ है?' इसलिए वे नाम भगवान का आश्रय लेते हैं। मानों आगे–आगे नाम भगवान। श्री किशोरीजी मुंदरी देखती हैं, सोचती हैं – इसे कौन लाया? और तब श्री हनुमानजी कथा सुनाने लग जाते हैं। भगवान की कथा और उनके नाम का वर्णन करते हैं :—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा।। ५/१२/५

अंत में जब माँ ने पूछा कि इस मुद्रिका को कौन लाया है ? तो माँ को संबोधित करते हुए उन्होंने, माँ–माँ की रट लगा दी ––

यह मुद्रिका मातु मैं आनी।

माँ ! मैं ले आया। पर माँ ने तो पुत्र नहीं कहा। माँ ने तो पहले अविश्वास किया। बाद में जब विश्वास हुआ तो कहा–"हाँ ! हाँ ! मैं समझ गई।" क्या ?

जाना मनक्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।

निश्चित रूप से यह मन, वचन और कर्म से प्रभु का दास है। सुनकर हनुमानजी उदास हो गए। यह प्रमाण–पत्र तो वहाँ पहले ही मिल चुका था। और माँ के पास भी वही 'दास' माना गया ! इसलिए बार–बार याद दिलाते हुए कहने लगे:––

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।
तव दुःख दुखी सुकृपा निकेता।।
जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना।।
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर। ५/१४

x x x x x x

कह कपि हृदय धीर धरु माता।

x x x x x x

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई।
प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई।। ५/१५/३

हनुमानजी ने हर वाक्य के साथ 'माँ ! माँ !' की झड़ी लगा दी।। पर माता, 'पुत्र' कह ही नहीं रही है। तब हनुमानजी ने एक अमोध उपाय किया।

बड़े यदि कोई विद्वत्ता की बात कहें तो अच्छी लगती है। और वे यदि अशुद्ध भाषण करें तो कहा जायगा कि इनको भाषा, व्याकरण या विषय का ज्ञान नहीं है। पर यदि बच्चे ऐसी 'बचपने' की बात करें तो अधिक अच्छी लगती है। हनुमानजी ने सोचा कि चलो अब बचपने की बात की जाय। इसलिए उन्होंनें कहा "माँ ! चिन्ता मत करो–

कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा।। ५/१५/४

माँ ! कुछ दिन धैर्य धारण कीजिए। प्रभु बंदरों के सहित आएँगे और तब :––

"निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।
तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं।।" ५/१५/५

राक्षसों का वध कर आपको लेकर लौटेंगे, चारो और हमारे प्रभु का यश फैलेगा। सुनकर माँ ध्यान से हनुमानजी की ओर देखने लगीं

– यह बच्चा तो बड़ा विलक्षण निकला ! और तब उनके मुख से वह शब्द निकला, जो अन्य बातों को सुनकर नहीं निकला था। कहने लगीं–

''हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।।''

पुत्र ! सारे बंदर तुम्हारी तरह ही हैं क्या ? सीधा–सा तात्पर्य है कि बच्चा यदि कहे 'मैं शेर को मारूँगा', तो सुनकर माँ–बाप उसे प्यार करते हैं। माँ भी यह जानकर कि 'ऐसी बात छोटे बच्चे करते हैं' कहने लगी :—

''हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।
जातुधान अति भट बलवाना।।
मोरे हृदय परम संदेहा।'' ५/१५/६-७

पुत्र ! राक्षस तो बड़े शक्तिशाली हैं। और तुम इतने नन्हे हो, भला कैसे पार पा सकोगे ? मेरे अन्तःकरण में तो अत्यन्त संदेह है। मानों बच्चों की–सी बात सुनकर प्रेम–परिप्लुत मातृत्व मुखर हो उठा। और हनुमानजी को वह चिर–अभिप्सित 'पुत्र' संबोधन प्राप्त हो गया, जिसे सुनकर–

सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा।
कनक मूधराकार सरीरा।
समर भयंकर अतिबल बीरा।।
सीता मन भरोस तब भयऊ।। ५/१५/७-८

और उस विशाल रूप को देखकर श्री सीता जी को विश्वास हो गया। पर हनुमानजी इतने सावधान हैं कि ज्योंही माँ को भरोसा हुआ, त्योंही वह विशाल शरीर समेट लिया औरः—

पुनि लघुरूप पवनसुन लयऊ। ५/१५/६

तुरंत छोटे बन गए। हनुमानजी को लगा कि बड़ा रूप दिखाने पर माँ को भरोसा तो हो गया, पर वे कहीं बड़ा ही न मान बैठें,जब

पुत्र माना है तो बस छोटा पुत्र ही मानती रहें। और सचमुच उस समय श्री हनुमानजी ने वह आशीर्वाद पाया, जो अन्य कोई नहीं पा सका। माँ ने आशीर्वाद दिया–

होहु तात बल सील निधाना।
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।। ५/१६/२-३

पुत्र ! तुम अजर हो जाओ, अमर हो जाओ। और भई ! स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्रत्येक माँ यही तो चाहती है कि मेरा पुत्र बूढ़ा न हो, उसकी मृत्यु न हो। और ये तो जगत्–जननी हैं।

उन्होंने आगे कहा –"पुत्र ! समस्त सद्‌गुण तुममें आ जायँ।" पर इतने पर भी उन्हें लगा कि अभी बच्चा पूरी तरह संतुष्ट नहीं है, इसलिए वे कहती है––

"करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।" ५/१६/३

श्रीराम तुमसे बहुत 'छोह' करें। और इस शब्द को सुनने के लिए वे जाने कब से आस लगाए बैठे थे। जब प्रभु से पहली बार मिलन हुआ तब भी उन्होंने इसी की माँग की थी। उन्होंने प्रभु से ठीक इसी शब्द का प्रयोग करते हुए कहा था। :–

"नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा"।। ४/२/२

प्रभु ! आप जीव पर 'छोह' करें ! प्रभु ने कहा – "भाई ! छोह करने का कार्य तो उनका हैं, पिता तो पुत्र की योग्यता का उपयोग करने के लिए प्रस्तुत है, पर माँ तो बालक से सहज भाव से छोह करती है।" और जब माँ के मुख से यह वाक्य निकला कि :––

करहुँ बहुत रघुनायक छोहू। ५/१६/५

तब हनुमानजी ने तुरंत कहा–

"अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता।" ५/१६/६

माँ ! अब मुझे छुट्टी मिल गई । क्योंकि सेवक का भी कर्त्तव्य होता है, और शिष्य का भी होता है,पर जब आपने कह दिया कि प्रभु ही मुझसे प्रेम करें तब तो मानों भक्ति करने से भी छुट्टी मिली। इसलिए वापसी में श्री हनुमानजी मुद्रिका लेकर नहीं लौटे। क्योंकि अब तो जप से भी छुट्टी मिल गई। वापस जाते समय माँ से क़हा:––

''मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा।
जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा।।'' ५/२६/१

प्रभु ने जैसे मुद्रिका दी थी, वैसे–ही आप भी कोई चिन्ह तो दीजिए। और तब माँ ने –

चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।५।२६।२

चूड़ामणि उतार कर दे दी। हनुमानजी ने उसे सिर पर धारण कर लिया। यह माँ और प्रभु की सांकेतिक भाषा थी। भगवान ने संकेत में कहा था कि मुद्रिका ले जानेवाला, विरह–सागर से पार उतारनेवाला यह हनुमान मेरा सेवक है, शिष्य है। पर माँ ने मुद्रिका रख ली और अंतिम उपाधि देते हुए संकेत में ही मानों कह दिया कि भगवान ! यह सेवक और शिष्य ही नहीं, 'भक्त–चूड़ामणि' भी है। आप जैसे 'भूपाल – चूड़ामणि' हैं यह 'भक्त–शिरोमणि' है। ऐसी कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए श्री हनुमानजी जब लौटते हैं, तो प्रभु भी उन्हें 'पुत्र' कहकर संबोधित करते हैं ––

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाही। ४/३१/७

श्री हनुमानजी से प्रभु ने पूछ दिया – ''हनुमान ! जाने और आने में एक ही मार्ग से गए न ?'' ''हाँ महाराज ! एक ही मार्ग से आना–जाना हुआ।'' प्रभु ने जानना चाहा कि आते और जाते समय कोई अंतर था क्या ? उन्होंने कहा – ''हाँ महाराज ! जब गया तो पग–पग पर विघ्न थे और लौटा तो एक भी विघ्न–विपत्ति नहीं आई। क्योंकि जब गया तो साधना के मार्ग से और लौटा तो कृपा के मार्ग से। और प्रभु

साधना का मार्ग तो विघ्नों से भरा हुआ है। पर जब माँ ने कृपा देकर लौटाया तो फिर कोई विघ्न–बाधा नहीं आई।''

लौटकर जब हनुमानजी ने चरणों में गिरकर प्रणाम किया तो प्रभु ने कहा – ''हनुमान ! आज तुम्हारे व्यवहार में अंतर देख रहा हूँ। पहली बार जब तुम मिले थे तो तुमने चरणों में गिरने के साथ–साथ चरणों को पकड़ भी लिया था ––

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।

पर आज तुम चरणों में गिर तो रहे हो, पर पकड़ नहीं रहे हो!'' यहाँ वर्णन भी यही आता है कि श्री हनुमानजी चरणों में गिरे तो, किन्तु पकड़ा नहीं।

चरन परेउ प्रेमाकुल ......

''तुम चरणों को पकड़ क्यों नहीं रहे हो ?'' हनुमानजी ने कहा – ''प्रभु ! माँ से यह मंत्र लेकर लौटा हूँ। क्योंकि माँ ने कह दिया है, अब तुम मत पकड़ना, वे ही तुमको पकड़े रहेंगे।

हनुमानजी ऐसे अद्‌भुत हैं कि उनका वर्णन किन शब्दों से किया जाय ! महर्षि बाल्मीकि नेः––

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।

के रूप में जो पंक्ति कही, उसे श्री हनुमानजी अपने चरित्र में पूरी तरह चरितार्थ करते हैं। उनके ये सारे संबंध श्री राम से हैं। अगर हम श्रीराम से सीधा संबंध न जोड़ पाएँ तो फिर हनुमानजी से नाता जोड़ लें।

कई लोग सुंदर कन्याओं का सुंदर वर से विवाह कराते हैं, पर हनुमानजी ऐसी कन्याओं से प्रभु का विवाह करा देते हैं, जिनकी ओर कोई देखना भी न चाहे। सुग्रीव और प्रभु की मैत्री तो इन्हीं की कृपा से संभव है। वे सुग्रीव के पास ही प्रभु को नहीं ले गए अपितु जब

सुषेण वैद्य को लाने के लिए प्रभु ने भेजा,तो उन्होंने देखा कि सुषेण गहरी नींद में सो रहे हैं। यद्यपि वे उन्हें जगाकर भी कह सकते थे कि चलिए। लेकिन उन्हें सोने दिया और घर सहित उठाकर, जहाँ प्रभु थे, वहाँ पहुँचा दिया। इसका तात्पर्य है कि सोए हुए व्यक्ति को भी प्रभु के पास पहुँचा देना, यह सामर्थ्य हनुमानजी में है। किसी ने हनुमानजी से पूछा – "महाराज ! आप तो जीव को जगाते हैं।" क्योंकि जब हनुमान जी महाराज विभीषण के घर के पास पहुँचे तो –

तेहीं समय बिभीषनु जागा।

अन्य ग्रन्थों में तो लिखा हुआ है कि 'ईश्वर को पाने के लिए सब कुछ छोड़ना पड़ता है', पर आपने न सुषेणजी की नींद छुड़ायी और न घर–बार छुड़वाया, उल्टे घर–सहित प्रभु के चरणों में पहुँचा दिया! ऐसा क्यों ? श्री हनुमानजी ने कहा –– "अरे भाई ! जो प्रभु के पास पहुँचना चाहे, उसे घर और नींद का परित्याग करना चाहिए, पर जब प्रभु ही उन्हें बुलाना चाहते थे, तो मैंने कहा कि तुम्हारा घर भी चला चले ; कोई चिन्ता की बात नहीं है। जैसे भी हो तुम चलो !" ऐसे परम कृपालु श्री हनुमानजी हैं। मैं पग–पग पर उनकी कृपा का अनुभव करता हुआ, साथ–साथ, बिरला दम्पत्ति के अगले वर्ष के निमंत्रण को मैं इसी रूप में स्वीकार करता हूँ कि भले ही मुझमें संकल्प शक्ति न हो, किन्तु इन दम्पत्ति के संकल्प से हम अगली बार पुनः मिल सकेंगे और फिर से भगवद्–चरित्र की चर्चा कर सकेंगे। इसी कामना के साथः––

जासु नाम भव भषेज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल।। ७/१२४

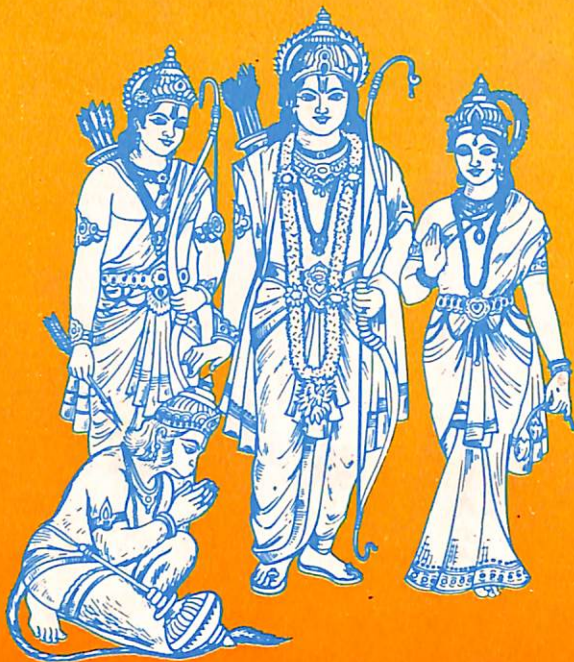
।। बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय।।

स्वामि सखा पितु मातु गुर

मन मंदिर तिन्ह कें बसहु

जिन्ह के सब तुम्ह तात ।

सीय सहित दोउ भ्रात ।।



बिरला अकादमी आफ
आर्ट एण्ड कल्चर